

स्वेतलाला

क्षितीश

अपनी कहानी
आपनी जवानी



क्रेमलिन की राजकुमारी

एक कहानी—

जो अब तक नहीं कहो गई

यह जीवनों नहीं

इतिहास भी नहीं

है एक उपन्यास—कल्पना पर आधित होने पर
भी यथार्थ के अत्यन्त निकट

दो जीवन-पद्धतियों, बादों और विचारधाराओं के
बीच झूलने की कहानी—

घटनाओं के घात-प्रतिघात की कोमल मन पर
पड़ी प्रतिक्रिया की कहानी—

जिसने बार-बार घर बसाया—और हर बार वह
उजड़ गया

अन्त में उसके विश्वव्य सन को शान्ति मिली—
पर कहाँ ?

स्वेतलाना



सुखोद्य पौरेट बुक्स दिल्ली

क्षितीश



स्वेच्छाना



प्रकाशक :

सुवोव पॉकेट बुक्स
नई सड़क, दिल्ली-६

कलापक्ष :

रिफॉर्मा स्टूडियो, दिल्ली

मुद्रक :

रायसीना प्रिटरी, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण : जुलाई, १९६७

SVETLANA : A NOVEL

मूल्य : एक रुपया

आखिर मैं रोम पहुँच गई ।

सात मार्च को आधी रात के वक्त मैं जब नई दिल्ली के हवाई अड्डे की ओर चली थी तब अनिश्चित भविष्य के प्रति अनेकानेक शंकाएं मन के तट से टकरा रही थीं ।

मन में भय तो नहीं था, किन्तु अज्ञात के प्रति आतंक और आशंका तो थी ही । नहीं जानती थी कि आगे आने वाला कल मुझ अभागिनी के लिए और कौन-सी नई समस्या बनकर उपस्थित होगा ।

अचानक आकाश की ओर मेरी दृष्टि गई । यह मोतियों जड़ा चंदोवा । ज्यों-ज्यों आसमान की ओर नज़र साधती हूँ त्यों-त्यों लगता है कि जैसे तारों का भण्डार उलटा पड़ रहा है । अनन्त आकाश—और तारे भी अनन्त । सुदूर व्योम-विस्तार में जगमगाते तारों के गुच्छे, अन्धकार में भटकती आत्माओं के लिए जैसे छोटे-छोटे प्रकाश-स्तम्भ ।

आकाश के तारों को देखते-देखते मेरे मन का आकाश भी तारों से भर गया और अब उसमें अन्धकार के स्थान पर ज्योति-स्फुर्लिंग खिल उठे ।

आँखें क्या आत्मा का द्वार नहीं हैं ? इस द्वार से जब आत्मा ने विराट का दर्शन किया तो उसमें भी विराटता समा गई । भाग गया मन का अन्धकार । अविश्वास का स्थान ले लिया विश्वास ने । विश्वास—मानवता में विश्वास । मानव की सहृदयता में विश्वास । मैं ठगी नहीं गई हूँ—मुझे कौन ठग सकता है ? मेरे मन की समस्त आशंकाएं और दुविधाएं विलीन हो गईं ।

निशीथ के नीरव एकान्त प्रहर में जब मैं पालम हवाई अड्डे पर हवाई जहाज में बैठी तब मेरी घड़ी में ठीक एक बज कर चौदह मिनट हुए थे। जब मैं रोम के हवाई अड्डे पर उतरी तब मेरी घड़ी सवेरे के ७-४५ बजा रही थी। इस सवा छः घण्टे के सफर में मैं काफी कुछ प्रकृतिस्थ हो गई थी।

मेरे साथ था अमेरिकन दूतावास का रूसी-भाषा से परिचित एक कर्मचारी—रार्बट एफ० रायले।

रोम में जब मैं उतरी तब मेरा मन वैसे ही हल्का था जैसे पानी बरसने के बाद बादल। मन में ताजगी भी वैसी ही थी जैसे सद्यः वर्षा के पश्चात् वृक्षों में ताजगी आ जाती है। रात की नींद की थकान आँखों में थी, पर मन एकदम भार-शून्य था।

और जब सवेरे की सुनहरी धूप ने हवाई जहाज से उतरते ही मेरा स्वागत किया तो मैं निहाल हो उठी।

इससे अधिक राजसी स्वागत की कल्पना मैं नहीं कर सकती थी।

हवाई जहाज से उतरने से पहले मैंने अपने हाथ की छोटी-सी अटैची संभाली। उस अटैची में मेरे प्राण बसते थे।

X

X

X

रोम पहुँचने तक मैं सर्वथा अपरिचित और अज्ञात व्यक्ति थी, पर जब चार दिन पश्चात् मैं रोम से स्विट्जरलैण्ड आने के लिए हवाई अड्डे पर पहुँची तो पत्रकारों, संवाददाताओं और फोटोग्राफरों की भीड़ वहाँ पहले से तैनात थी।

स्टालिन की पुत्री स्वेतलाना—स्टालिन की पुत्री स्वेतलाना—सब की जवान पर एक ही आवाज थी, आँखों में एक ही जिज्ञासा, मन में एक ही उत्सुकता।

अच्छा, तो ये सब मेरी एक भलक लेने के लिए यहाँ एकत्र हुए हैं। मैं क्या किसी अन्य लोक की प्राणी हूँ?

क्या मैं भी इन्हीं की तरह सामान्य मानवी नहीं हूँ?

मुझमें कौन-सा अनोखापन है जो इन सबको यहाँ खींच लाया है? मैं ढाई मास तक भारत में रही हूँ—वहाँ तो कभी मेरे लिए इतनी

भीड़ इकट्ठी नहीं हुई । वहाँ कभी किसी ने मेरे प्रति इतनी उत्सुकता नहीं दिखाई ।

ओह, समझी !

स्टालिन की पुत्री और क्रेमलिन की राजकुमारी को अमेरिका का गुप्तचर विभाग भगा लाया है । न भारत सरकार को इस बारे में कुछ पता लगा, न नई दिल्ली-स्थित रूसी दूतावास को, न ही किसी अन्य देश की सरकार को । और मेरे रोम पहुँचते ही संसार भर के अखबारों ने इस घटना को राजनीतिक रंग देकर इस तरह उछाला है कि सब ओर सनसनी फैल गई है ।

बुरा हो राजनीति का !

यह सामान्य आदमी को सामान्य आदमी की तरह नहीं जीने देती । मुझे इसीलिए उससे नफरत है । और यह नफरत मुझे आज से नहीं, तभी से है जब से मैंने होश संभाला है ।

राजनीति को मैंने इतने निकट से देखा है और उसके इतने वीभत्स रूप मेरे सामने से गुजरे हैं कि उससे बिना घृणा किए मैं रह नहीं सकी । शायद मेरी जगह कोई और सहृदय व्यक्ति होता और उसने भी राजनीति के बैसे ही नृशंस रूपों के दर्शन किए होते तो वह भी मेरी ही तरह राजनीति से घृणा करने लगता ।

पर राजनीति के ये खिलाड़ी भी कैसे घुटे हुए होते हैं !

पता नहीं किस चोर दरवाजे से मुझे हवाई अड्डे पर पहुँचाया गया और वहाँ ले जाकर मुझे एक छोटी सी कोठरी में बन्द कर दिया गया ।

और मेरा साथ देने के लिए ही मेरे साथ दिल्ली से आए वे राबर्ट रायले महोदय भी कहाँ गये ?

वे मुझसे अलग किसी और कमरे में छिपे बैठे थे । उनके मन में भी भय था कि जिस तरह के समाचार अखबारों में छिपे हैं उनके कारण उनके साथ मुझे और मेरे साथ उन्हें देखते ही ये सब अखबारवाले तुरन्त भाँप जाएंगे कि यही है क्रेमलिन की राजकुमारी, स्टालिन की पुत्री स्वेतलाना !

और ये अखबारवाले भी कैसे भाँदू हैं ! उनकी सतर्क आँखें सारे हवाई अड्डे को छान रही हैं, पर जिस कमरे में मैं बन्द हूँ उसकी ओर

किसी का ध्यान नहीं जाता ।

गोपनीयता के कारण मेरे लिए टिकट भी मेरे असली नाम से नहीं लिया गया, बल्कि मेरी माँ के नाम से—मैडम आलेलीयूयावा—के नाम से लिया गया है ।

हवाई जहाज के रवाना होने में जब केवल पाँच मिनट रह गए तब राबर्ट रायले अपनी सीट पर जाकर बैठ गये ।

सब संवाददाताओं की नजरें हवाई जहाज पर टिक गईं । हवाई जहाज के चलने का समय हो गया, पर क्रेमलिन की राजकुमारी तो कहीं दिखाई नहीं दी ।

धीरे-धीरे उनके चेहरों पर निराशा की हवाइयाँ उड़ने लगीं ।

और जब सचमुच ही हवाई जहाज के चलने का समय हो गया और मैं वहाँ नहीं पहुँची तो राबर्ट रायले विचलित हो उठे । वे अपनी सीट से उचक-उचक कर मुझे तलाश करने लगे । फिर भी मैं नजर नहीं आई तो उन्होंने चालकों को इशारा किया कि अभी एक विशिष्ट अतिथि का आना बाकी है, इसलिए उसके आने तक हवाई जहाज न चलाया जाए ।

पर चालक नहीं माने ।

तब राबर्ट विमान के द्वार के बीच में आकर खड़े हो गए और अपनी जिद पर अड़ गए ।

विमान के द्वार पर फिर सीढ़ी लगाई गई । राबर्ट भागे-भागे नीचे आए । शायद उनको भी पता नहीं था कि मुझे किस कमरे में बन्द किया गया है । जब हवाई अड्डे के सब कमरों को तलाश करते-करते वे मेरे बाले कमरे के पास पहुँचे और रोशनदान से झाँक कर मैंने उन्हें आवाज़ दी तब उन्होंने कमरा खुलवाया । कमरे के बाहर अभी तक एक सिपाही बन्दूक लिए पहरा दे रहा था ।

मैं हवाई जहाज में तो बैठ गई, पर अब मेरे गुस्से की बारी थी । मुझसे रहा नहीं गया तो मैंने क्रोध के आवेश में कहा—

“राबर्ट, तुम्हारी यही व्यवस्था है ? मुझे पहले पता होता कि मेरे साथ ऐसा व्यवहार होगा, तो मैं कभी तुम्हारे साथ नहीं आती ।”

स्विट्जरलैंड के अन्तर्राष्ट्रीय नगर जेनेवा में जब मैं पहुँची तब शाम के लगभग चार बजे थे ।

रोम से जब चली थी तब मन भारी था । दिल में गुस्सा भी था । रह-रह कर मन के एक कोने में यह बात भी बिना उठे नहीं रहती थी कि मैं कहीं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मोहरा तो नहीं बन रही हूँ । कहीं मेरे कारण शीत युद्ध का कोई नया दौर तो शुरू नहीं हो जाएगा ।

जैसे मुझे राजनीति से नफरत है, वैसे ही युद्ध से भी, भले ही वह शीत युद्ध ही क्यों न हो । मुझे उन दोनों में ही मानव की निम्न वृत्तियों की चरितार्थता नज़र आती है ।

पर मेरे चाहने से ही क्या होता है । परिस्थितियाँ क्या से क्या करवा देती हैं ।

देख रही हूँ कि जिस नियति से मैं सबसे अधिक बचना चाहती थी वह मेरे सामने अपने हजार फन फैलाए हाजिर है ।

स्विस सरकार के विदेश विभाग का एक उच्च अधिकारी मेरी अगवानी के लिए हवाई अड्डे पर मौजूद था ।

यह बात तो मुझे बुरी नहीं लगी । मैं कितना ही चाहूँ कि मेरे साथ 'विशिष्ट व्यक्ति' (वी० आई० पी०) का सा बर्ताव न किया जाए, परन्तु 'विशिष्ट व्यक्ति' तो मैं हूँ ही—इससे कैसे इन्कार कर सकती हूँ ?

पर यह अखबार वालों की भीड़ । संवाददाताओं और फोटो-ग्राफरों का जमघट ? यह सब किस लिए ? मेरे पहुँचने से पहले मेरी खबर इन तक पहुँच गई लगती है ।

क्या इन अखबारवालों को और कोई काम नहीं है ? जहां चोरी या डाका डले, दुर्घटना हों, वहां इनका तुरन्त भागकर पहुँचना समझ में आता है । पर मैं क्या चोर हूँ ? डाकू हूँ ? पागल खाने से छूटकर आई हूँ ? चिड़ियाघर का कोई अजनवी जानवर हूँ ?

न सही चोर और डाकू, पर हादसा तो मैं सचमुच हूँ ही । जिस तरह चुपचाप, बिना किसी को कोई सुराग दिए, मैं नई दिल्ली से रोम और रोम से जेनेवा भाग आई हूँ वह अपने आप में किसी हादसे से

कम थोड़े ही है ।

क्वाण्टास विमान के द्वार से लगी सीढ़ी पर ज्यों ही मैंने पाँव रखा कि सैंकड़ों फोटोग्राफरों की फ्लैश रोशनियां मेरे चेहरे पर नाच गईं । मैं बिना किसी की ओर देखे जल्दी से नीचे उतरी । स्वस अधिकारी ने मुझे सहारा दिया । पास ही खड़ी कार की ओर मैं लपकी । सम्बाददाता और फोटोग्राफर मेरे पीछे भागे । अपने पास तक उनके पहुँचने से पहले ही मैं हवाई अड्डे से रवाना हो गई ।

परन्तु अखबारों के संवाददाता इतनी आसानी से मेरा पीछा छोड़ने वाले थोड़े ही थे ? मैं किस होटल में ठहरी हूँ, यह किसी को पता नहीं था । संवाददाताओं ने सरकारी अधिकारियों को फोन पर फोन करके परेशान कर दिया ।

जब उन्हें कहीं से कुछ अता-पता नहीं लगा तो समस्त यूरोप और अमरीका से अपने-अपने सम्पादकों के स्वल्पकालिक-नोटिस और टेलिफोनिक-सन्देश पर ही जेनेवा में एकत्र हुए उन सम्बाददाताओं और फोटोग्राफरों ने व्यक्तिगत अभियान के बजाय सामूहिक अभियान प्रारम्भ किया ।

उन्होंने आपस में मिलकर अपनी अलग-अलग टोलियाँ बना लीं और ये टोलियाँ अलग-अलग होटलों की तलाशी लेने चल दीं । ‘तलाशी’ ही कहूँ उसे, नहीं तो और क्या कहूँ ?

संवाददाताओं की इस योजना से मैं बेखबर थी । मुझे पता नहीं था कि किस तरह ये शिकारी कुत्ते मेरा पीछा कर रहे हैं ।

अचानक अगले दिन शाम के आसपास मैं कुछ आवश्यक सामान खरीदने के लिए बाजार गईं । मैं एक दुकान के अन्दर घुसी ।

तब तक मेरे स्विट्जरलैण्ड पहुँचने की खबर और हवाई जहाज की सीढ़ियों पर उतरते हुए मेरा चित्र अखबारों में छप चुका था ।

जिस दुकान में मैं घुसी थी उसकी विक्रेता लड़की ने जैसे मुझे देखते ही पहचान लिया । उसने मुझसे तुरन्त पूछा : “क्या आप मैडम स्वेतलाना हैं ?”

मैं उसका जबाब देते हुए कुछ भिखकी । भूठ बोलने की मेरी आदत नहीं । पर सच कहने का भी क्या दुष्परिणाम हो सकता है,

इसकी मैंने कल्पना नहीं की थी ।

मेरे 'हाँ' कहते ही वह लड़की मुझसे क्षमा माँग कर "मैं अभी आई" यह कहती हुई काउण्टर छोड़ कर चली गई और उसने चुपचाप एक संवाददाता को फोन कर दिया ।

और फिर काउण्टर पर आकर तरह-तरह की चीजें दिखाते हुए उसने मुझे बातों में लगा लिया ।

थोड़ी देर में मैं क्या देखती हूँ कि उस दुकान के दरवाजे पर भीड़ इकट्ठी हो गई है और लोग दुकान के अन्दर घुसने के लिए आपस में धक्का-मुक्की कर रहे हैं ।

मैंने उस लड़की से पूछा...“यह भीड़ कौसी है ?”

लड़की मेरी ओर देखकर मुस्कराई और फिर धीरे से बोली...“अखबार वाले ।”

×

×

×

मैं वहाँ से बदहवास होकर भागी । सचमुच ही शिकारी कुत्ते हैं ये अखबार वाले । संकेत मिलते ही सूंधते सूंधते पहुँच जाते हैं और जाकर चारों ओर से शिकार को घेर लेते हैं । और फिर क्या मजाल कि शिकार इनके हाथ से निकल जाए ।

दुकान से भागकर बाहर निकलते ही मैंने टैक्सी की । तुरन्त अपने होटल पहुँची । वहाँ से अपनी अटैची उठाई—वही जिसे मैं दिल्ली से अपने साथ लाई थी और जिसे मैं सदा अपने साथ ही रखती थी, और उसी टैक्सी से अज्ञात स्थान को रवाना हो गई ।

नहीं, अब मैं जेनेवा मैं नहीं रह सकती । यहाँ मैं पहचान ली गई हूँ । अब ये शिकारी कुत्ते मेरा पीछा करते ही रहेंगे । जेनेवा में नहीं, वर्ना मैं भी नहीं । मैं शहर में ही नहीं रहूँगी । मैं कहाँ दूर जाऊँगी, किसी देहात में, कहाँ एकांत में, जहाँ मेरा पीछा करने वाला कोई न हो ।

और मैं वहाँ से ४०-५० मील दूर एक एकान्त पहाड़ी पर पहुँच गई । छोटी-सी बस्ती थी । पास ही थी एक छोटी-सी झील । सामने की पहाड़ियों पर हिम का दृश्य । नीचे धाटी में घना जंगल । प्रकृति

का उन्मुक्त वातावरण ।

पेड़ों के झुरमुट के बीच में छोटा-सा रोमन कैथोलिक गिरजाघर । यही है मेरा शरण स्थान । मेरे तन और मन दोनों के लिए आदर्श विश्रान्ति-स्थल ।

बूढ़े पादरी ने जिस वात्सल्य से मेरा स्वागत किया, उससे मैं अभिभूत हो गई । इस शांत वातावरण में पहुँचकर मुझे रात को जैसी बेफिक्री की नींद आई, लगा कि मुझे अर्से से ऐसी नींद नहीं आई थी । और जब से दिल्ली से आई थी तब से तो जैसे मैं ऐसी नींद के लिए तरस गई थी ।

और नींद कितनी बड़ी मरहम है मन के धावों के लिए, यह मुझे उसी दिन अनुभव हुआ । अगले दिन सवेरे उठीं तो मैं स्वस्थ थी ।

कहां गए शिकारी संवाददाता ?

हरेक चौराहे पर खड़े सिपाही से वे पूछते फिरे कि किवर गई वह ?

सिपाही कहता—“पता नहीं कहां और किवर । लगता है कि कहां पहाड़ियों में खो गई ।”

संवाददाता ने पहाड़ियों के और पहाड़ी बस्तियों के चक्कर लगाने शुरू किए । दस-दस बीस-बीस मील के घेरे के अंदर उन्होंने कोई स्थान बिना तलाश किए नहीं छोड़ा । रोज सवेरे वे नए अभियान पर निकलते और शाम को निराश होकर थके-मांदे वापस लौट आते ।

मुझ नहीं मिलना था, मैं नहीं मिली ।

जब कई दिन इसी तरह गुजर गए, तब अंत में उन्होंने हार मान ली । उधर उनके सम्पादक-गण भी मेरे बारे में अभिनव समाचारों की प्रतीक्षा करते-करते थक गए, तब उन्होंने अपने इन ‘शिकारियों’ को वापस बुला लिया ।

मैं निश्चिन्त हो गई ।

शाम को मैं घूमने गई । जंगल की सुनसान पगड़ण्डी में दूर तक अकेली निकल गई । मार्च के मध्य की सुनहली धूप धीरे-धीरे वापस जा रही थी । देवदार के वृक्षों की पत्तियों से भरे वन-पथ पर चलने से जो मर्मर ध्वनि होती थी उससे मुझे लगता था जैसे कोई मेरा

पीछा कर रहा हो । मैं बार-बार मुड़ कर पीछे देखती थी । कहीं कोई नहीं । मेरी अपनी ही पदचाप तो थी वह ।

जब गिरजाघर वापिस पहुंची तब आस्मान में तारे छिटक आए थे । वही तारे जिन्होंने दिल्ली से चलने पर निविड़ अन्धकार से घिरे मेरे हृदय को आशा के आलोक से भर दिया था ।

पिछले पाँच दिन कैसे दुःस्वप्न की तरह बीते कि मैं एक बार भी तारों भरे आस्मान की ओर नहीं देख सकी । पता नहीं इन पाँच दिनों में तारे आकाश में निकले भी या नहीं ।

क्या आस्मान के तारे भी छोटे शरारती बच्चों की तरह नहीं हैं ? जिस दिन बादल छाए होते हैं उस दिन उनकी माँ भी अँधी पानी के डर से उन्हें बाहर नहीं निकलने देती होगी । और जहाँ जरा आस्मान साफ हुआ कि झुण्ड के झुण्ड ये शरारती बच्चे अन्तरिक्ष के मैदान में खेलने के लिए मचल उठते हैं और आपस में आँख मिचौनी का खेल खेलते रहते हैं ।

मेरा जीवन भी क्या आँख मिचौनी का ही खेल नहीं है !

मैं भी क्या आस्मान का एक तारा नहीं हूँ ?

मैं यों गिरजे के बरामदे के खम्मे से टिकी अपने विचारों के आकाश में विचरण कर रही थी कि सहसा किसी ने अपना ठण्डा हाथ मेरे कन्धे पर रख दिया ।

उसकी पगध्वनि भी मैंने सुनी थी, पर वह ऐसी नहीं थी जैसी किसी जीवित व्यक्ति की होती है । वह हाथ इतना निर्जीव था कि अंधेरे में भी उसकी आँखों में छिपे भाव को समझने में मुझे दिक्कत नहीं हुई । उसके शरीर का स्पर्श उसके मन की तरंगों को भी मुझ तक ले आया था । वह व्यक्ति तो जीवित था, पर जीवन कभी का उससे विदा ले चुका था ।

हम दोनों तारों की छाया में बैठ गए । उसके ठण्डे हाथ को मैंने अपने हाथ में ले लिया ताकि वह कुछ गर्म हो सके और मेरे जीवन की ऊँझा उसमें प्रवाहित हो सके । वह शायद अकेला था और प्रेम ही उसे जिला सकता था ।

ऐसे समय बोलना उचित नहीं था । मैं भी चुप ही रही । शब्द

जिन धावों को नहीं भर सकता, पता नहीं अपने किस जादू से मौन उन्हें अनायास भर देता है। जब अन्तर का संगीत मुखरित हो उठता है तो शब्द और घ्वनियाँ तो उस संगीत का आनन्द लेने में बाधक ही सिद्ध होती हैं।

रात्रि मौन थी, वह और मौन हो गई। शून्य संगीत ने हम दोनों को घेर लिया।

प्रस्तर-सी कठोर उसकी जड़ता टूटी। मुझे लगा कि उसकी आँखों में आँसू हैं। वह सचमुच रो रहा था।

उसका सारा शरीर काँप रहा था। उसके हृदय में जो तूफान मचा था उसका कुछ आभास उसके काँपते रोओं से हो रहा था। वह रोता रहा, रोता रहा, रोता रहा।

और फिर बोला—“मैं मरना चाहता हूं। मैं निःस्व हूं, एकदम निराश। मेरे पास कुछ भी तो नहीं है। न मेरे माँ है, न बाप, न भाई है, न बहन, न कोई प्रेमी। मैं कहाँ जाऊं? मेरे लिए कोई ठिकाना नहीं। मैं सब ओर से परित्यक्त हूं।”

मैं थोड़ी देर चुप रही। फिर धीरे-धीरे मैंने उसे एक कहानी सुनाई। मैंने कहा—“तवारिश, मुझे एक कथा याद आती है। एक फकीर से किसी युवक ने जाकर कहा था—“परमात्मा ने मेरा सब कुछ छीन लिया है, अब मेरे लिए मृत्यु के सिवाय और कोई मार्ग नहीं है।”

फकीर ने युवक से कहा—“मैं तो तेरे पास एक छिपा हुआ खजाना देख रहा हूं। क्या उसे बेचेगा? यदि तू उसे बेच दे तो तेरा सब काम बन जाय और परमात्मा भी बदनामी से बच जाए।”

वह युवक हैरान हुआ। उसने कहा—“खजाना? मेरे पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं है।”

इस पर फकीर हँसने लगा और बोला—“चलो, मेरे साथ राजा के पास चलो। राजा बड़ा समझदार है। छिपे खजानों पर सदा उसकी गहरी नजर रहती है। वह ज़रूर तुम्हारा खजाना खरीद लेगा। मैं पहले भी बहुत से छिपे खजाने वालों को उसके पास ले गया हूं।”

युवक कुछ नहीं समझा, परन्तु फकीर के साथ राजा के महल की ओर चल पड़ा।

मार्ग में फकीर ने कहा—“कुछ वातें पहले ही तय कर लेना आवश्यक है, ताकि राजा के सामने कोई झंझट न हो। वह राजा ऐसा है कि उसे जो चीज एक बार पसंद आ जाती है उसे वह किसी भी कीमत पर छोड़ता नहीं है। इसलिए यह जान लेना जरूरी है कि तुम उस चीज को बेचने को राजी हो या नहीं?”

युवक बोला—“कौनसा खजाना? कौनसी चीजें?”

फकीर ने कहा—“जैसे तुम्हारी आँखें? इनका क्या मूल्य लोगे? मैं इनके तुम्हें पचास हजार ८० तक राजा से दिलवा सकता हूँ। क्या यह रकम काफी नहीं है...या मानलो कि तुम्हारा हृदय...तुम्हारा मस्तिष्क-इनका तो एक-एक लाख तक मिल सकता है।”

युवक फकीर से बोला—“क्या तुम पागल हो गए हो? आँखें? हृदय? मस्तिष्क? तुम कह क्या रहे हो? मैं इन्हें तो किसी भी मूल्य पर नहीं बेच सकता—और मैं ही क्यों, कोई भी इन्हें बेचने को तैयार नहीं होगा।”

फकीर हँसने लगा और बोला—“पागल मैं हूँ या तू? जब तेरे पास इतनी बहुमूल्य चीजें हैं जिन्हें तू लाखों ८० में भी नहीं बेच सकता तो भूठमूठ को निःस्व, निर्धन और निराश क्यों बनता है? उठ खड़ा हो। इनका उपयोग कर। जो खजाना उपयोग में नहीं आता, वह भरा हुआ भी खाली है और जो उपयोग में आता है, वह खाली हो तो भी भर जाता है।”

फिर थोड़ा ठहर कर और युवक के कन्धे पर हाथ रख कर फकीर बोला—“परमात्मा खजाने देता है, छिपे खजाने देता है, लेकिन उनकी खोज और खुदाई स्वयं ही करनी पड़ती है। जीवन से बढ़ कर कोई सम्पदा नहीं है। और जिसे जीवन में भी सम्पदा नहीं दिखती, उसे और कहाँ सम्पदा मिलेगी?”

रात्रि आधी बीत चली थी। यह कहानी सुनाकर मैंने अपने कन्धे पर हाथ रखने वाले, जीवन और मृत्यु के बीच में झूलते उस निराश आदमी से कहा—“दोस्त, जाओ और सो जाओ। सुबह जब उठो तब

सर्वथा बदले हुए व्यक्ति की तरह उठो । जीवन वैसा ही होता है जैसा हम उसे बनाते हैं—वह मनुष्य की अपनी सृष्टि है । उसे हम मृत्यु भी बना सकते हैं और अमृत भी । यह सब अपने सिवाय और किसी पर निर्भर नहीं है । फिर मृत्यु तो अपने आप आ जाएगी, उसे बुलाने की आवश्यकता नहीं है । बुलाओ अमृत को, पुकारो परम-जीवन को, वह तो संकल्प और साधना से ही मिल सकता है ।”

और मैंने पीछे घूमकर देखा तो वह आदमी गायब हो गया था ।
कौन था वह आदमी ?

व्या वह मेरी ही अन्तरात्मा का एक खण्ड था ?

और सहसा मुझे अपनी अटैची याद आई—जिसमें मेरा गुप्त खजाना रखा था ।

मैं गिरजे के अन्दर गई और अटैची को बगल में दबा कर सो गई ।

अगले दिन उठी तो मैंने अपने आपको सर्वथा बदला हुआ पाया ।

२

सौन्दर्य ने सदा मुझे आकृष्ट किया है । संसार में कोई ऐसा भी व्यक्ति हो सकता है जिसे सुन्दरता आकृष्ट नहीं करती, यह मैं नहीं जानती ।

कुछ लोग कहते हैं कि “प्रकृति की सुन्दरता” बेमानी शब्द है, क्योंकि प्रकृति तो जड़ वस्तु है और जड़ वस्तु के सौन्दर्य का क्या अर्थ ? सौन्दर्य का कुछ भी अर्थ वहीं होता है जहाँ उसे समझ कर उसका उचित आदर करने वाला कोई हो । सुन्दर वस्तु के प्रति प्रशंसा के उद्गार हठात् किसी के मुँह से निकल पड़े और वह सुन्दर वस्तु अपनी प्रशंसा के बदले अपनी कुछ प्रतिक्रिया व्यक्त कर सके । जहाँ वक्ता और श्रोता दोनों न हों, वहाँ कहे कौन और समझे कौन ? फिर ऐसी स्थिति में

सौन्दर्य-बोध का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता ।

शेक्सपियर ने कहा है न—“ब्यूटी इण्टौक्सिकेट्स बोथ, दि होल्डर एण्ड दि बिहोल्डर” (Beauty intoxicates both, the holder and the beholder)—सौन्दर्य दोनों को उन्मत्त बना देता है, देखने वाले को भी और स्वयं सुन्दर वस्तु को भी ।” मुझे तो सौन्दर्य की यही परिभाषा सही लगती है ।

मुझे प्रकृति कभी जड़ नहीं लगती । कोई कली चटकती है, या कोई फूल खिलता है, या कोई फल पकता है—तो मुझे जीवनरस की वही धारा उस वनस्पति-जगत् में भी प्रवाहित होती दिखाई देती है जो हम सब में है ।

या जब पानी में कोई तरंग उठती है, धूप खिलती है, बर्फ गिरती है, आसमान में तारे छिटकते हैं, चाँद चमकता है, पक्षी चहचहाते हैं—तब न जाने क्यों मेरा हृदय आनंदोलित हो उठता है । मुझे प्रकृति की घटना के साथ अपना मन एक तान होता लगता है ।

ऐसा क्यों होता है—मैं नहीं जानती । क्या हम सब—प्राणिजगत् और प्रकृति-जगत्—किसी एक ही विराट् के रूपान्तर हैं? इसीलिए हम सब परस्पर विच्छिन्न होकर भी इतने अविच्छिन्न हैं? इतने दूर होकर भी इतने पास ?

सघन वन-प्रान्त में धूमते-धूमते मैं भटक गई । तन भी भटक गया, मन भी ।

दिन में रोज मैं ऐसे ही भटकती रहती । पर न पावों में थकान होती, न मन उद्धिग्न होता । पेड़ों पर पक्षियों को चहचहाते देखकर और जंगल में वसन्त के प्रथम पुष्पों को खिलता देख कर मैं आत्म-विभोर-सी हुई रहती ।

दिन तो यों बीत जाता, पर रात को सोने लगती तो स्मृतियों का मेला जुड़ जाता । स्मृतियों की बरात दिमाग में नाचती-गाती, ढोल बजाती आती चली जाती । उन स्मृतियों में खोये-खोये कब मुझे नींद आ जाती, पता नहीं । कब सवेरा हो जाता—यह भी पता नहीं । कब मैं उठकर फिर एकान्त में धूमने निकल पड़ती, पता नहीं

और यों स्विट्जरलैण्ड का यह प्रवास मेरे जीवन का एक महत्त्व-

पूर्ण परिच्छेद बन गया ।

वे स्मृतियाँ भी क्या थीं—मेरा अपना ही अतीत जीवन था, जिस पर बार बार बार मैंने सोचा है, बार बार उनको लिपिबद्ध किया है । मेरे जीवन की वे घटनाएं भी कैसे मेरे हृदय में आसन जमाए बैठी हैं कि जब-जब एकान्त में होती हूँ तब-तब वही बारी-बारी से सामने आ कर मुजरा करने लगती हैं ।

X

X

X

मुझे अपने जीवन की पहली स्मृति उस समय की है जब मैं ६ साल की थी । याद आता है कि कैसी धूमधाम से उस वर्ष मेरा जन्म दिवस मनाया गया था । इससे पहले के सालों में भी मेरा जन्म दिवस मनाया जाता रहा होगा, पर मुझे स्मरण नहीं है । सिर्फ इतना ही याद है कि अनेक नौकर चाकरों के रहते हुए भी उस दिन मेरी माँ मुझे अपने हाथों से नहलाती, धुलाती, खूब साफ सुन्दर नए कपड़े पहनाती, मेरी मन पसन्द चीजें मुझे खिलाती और उस दिन हर चंद यह कोशिश की जाती कि मैं किसी बात पर नाराज न होऊँ । मेरी प्रत्येक जिद पूरी की जाती ।

मेरी नाराजगी का वैसे ही कोई अवसर नहीं आ पाता था, क्योंकि क्रेमलिन के उस विशाल प्रासाद में मैं ही अकेली एक बच्ची थी, बाकी सब पुरुष थे, या स्त्रियाँ थीं । सब मुझ से बड़े । मेरे दोनों भाई उस उम्र को पार कर चुके थे जिस में बच्चों को लाड किया जाता है । इसलिए अपने माता और पिता दोनों का सारा लाड मैं ही बटोर रही थी ।

मेरे पिता कितने शक्तिशाली थे और संसार के समस्त सत्ताधीशों पर तथा रूस की जनता पर उनका कितना आतंक था, यह मैं उस समय नहीं जानती थी । जानती थी केवल यह कि जब वे मुझे गोद में उठाकर प्यार करते थे तो मेरे कोमल गालों पर उनकी नुकीली मूँछें चुभने लगती थीं ।

वैसे भी मुझे उनकी मूँछें कभी अच्छी नहीं लगीं । और सच कहूँ, उन मूँछों के कारण मुझे उनका चेहरा ऐसा भयावना लगता था कि मैं मन ही मन उनसे डरती थी । उनके चेहरे पर सदा ऐसा खिचाव

रहता कि यदि मुझे प्यार करते समय का उनके मुख का कोमलभाव मैंने न देखा होता तो मैं उनकी उस रुक्षता को ही उनका स्थायी स्वभाव समझ बैठती। कभी-कभी अपनी माँ से बात करते भी उनके चेहरे पर मैंने वही कोमल भाव देखा था, पर वह कभी-कभी ही। अक्सर तो माँ से बात करते-करते भी उनके चेहरे की कठोर रेखाओं में कमी नहीं आती।

न जाने कैसे, उस बचपन में भी मैं यह जान गई थी कि जब मेरे पिता और मेरी माता पास पास बैठे हों और उन दोनों के चेहरे पर अनवन की-सी और पारस्परिक क्षणिक असहिष्णुता की-सी कोई लहर गुजर गुजर जा रही हो, तब उस संगीन प्रसंग को हल्का बनाने के लिए मैं महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती हूँ।

ऐसे अवसरों पर मैं बेखटके अपने पिता की गोद में जा चढ़ती या उनके कन्धे पकड़कर भूलने लगती, या उनकी पीठ से चिपककर खड़ी हो जाती—और मैं देखती कि मेरे पिता उस क्षण की दुर्बहता को भूलकर मुझे दुलराने लगते और तब दोनों का मुख-मालिन्य पता नहीं कहां तिरोहित हो जाता।

ऐसे अवसर पर मेरी माँ कृत्रिम क्रोध से मुझे डाँटती—“तू फिर आ गई शैतान छोकरी, अपने पापा को तंग करने।”

पर तभी अकस्मात् सहज हो आए मेरे पिता कहते—“क्यों डाँटती हो जी इसे। मेरी बिटिया तो मेरी गोद में ही रहेगी।”

मैं भी पिता की गोद में लदी-लदी अपने विजय गर्व पर मुस्कराती चोरी से माँ को मुँह चिढ़ाती और कहती—“हाँ जी, हम तो अपने पापा की गोद में ही खेलेंगे।”

माँ कहती—“पापा को जाने दे। उन्हें बहुत काम है। तू क्यों उनका बक्त बर्बाद कर रही है?” और फिर मेरे पापा को लक्ष्य करके कहती—“आप भी इसके लाड़ में पड़ गए। छोड़िए न इसे।”

मैं पापा से कहती—“क्यों पापा, क्या सभी बच्चियाँ अपने पिता की गोद में खेल कर खुश नहीं होतीं? फिर मैं तो आपकी एक ही बेटी हूँ—सो भी इतनी लाडली।”

थोड़ी देर रुक कर फिर मैं पूछती—“अच्छा पापा, मुझे एक बात

बताओ। क्या मेरी माँ अपने पापा की गोद में नहीं खेली होंगी ?”

मेरे पापा कहते—“क्यों नहीं, क्यों नहीं। फिर तू तो सचमुच हमारी बड़ी प्यारी बिटिया है।”

मुझे पता नहीं क्या सूझा कि मैंने कनकियों से अपनी माँ की ओर देखकर पापा से कहा—“हाँ हाँ, मैं जानती हूँ। माँ को मुझसे ईर्ष्या हो रही है कि बिटिया रानी तो पापा की गोद में चढ़ी है और....”

मैं शायद आगे कुछ और भी कहती कि तभी सचमुच ही मेरी माँ ने मुझे डाँट दिया—“पगली कहीं की, उतरेगी या नहीं गोद से ?”

तब पापा कस कर मुझे छाती से चिपटा लेते और इतना कस कर प्यार करते कि पास खड़ी मेरी माँ का चेहरा लज्जा से आरक्त हो उठता।

पापा के जाने के बाद मैं माँ से पूछती—“माँ, सच-सच बताना, मुझे तुम ज्यादा प्यार करती हो या पापा ज्यादा प्यार करते हैं।”

माँ कहती—“यह भी कोई पूछने की बात है ? पापा पापा हैं, मैं माँ हूँ।” फिर बात को जैसे समझाती हुई कहती—“अपने बच्चों को माता-पिता दोनों बराबर प्यार करते हैं।”

“पर माँ, तुम तो भी कभी-कभी मेरे साथ खेलती भी हो। मेरे पापा तो मेरे साथ कभी नहीं खेलते। ऐसा भी क्या प्यार हुआ कि हमारे साथ खेलने का उन्हें कभी समय ही नहीं मिलता।”

माँ कहती—“स्वेतो, तेरे पापा बहुत व्यस्त आदमी हैं। इतने कि संसार का और कोई भी व्यक्ति शायद इतना व्यस्त न हो। उन पर कितनी जिम्मेवारियाँ हैं, यह तू क्या जाने। वे दिन भर काम करते रहते हैं, फिर रात को भी काम करते हैं।”

“फिर तुमसे बात करने का अवसर उन्हें कब मिलता है”—मैं पूछती।

“दुत—पगली, अब क्या बात किये हो जाएँगे। तू हो गई, यह बात करने का ही तो नतीजा है। और क्या चाहिए ?”—माँ कुछ-कुछ खीभ के साथ कहती।

“तो क्या बात करने से बच्चे होते हैं ?”

माँ एकदम चिढ़कर कहती, “अरी तू सिर खाए ही जाएगी ।
आज तुझे कहीं खेलने नहीं जाना हैं ?”

खेल की याद दिलाते ही मैं भाग खड़ी होती ।

पर खेलूँ किसके साथ ?

याकोव और वैसली—दोनों भाई मुझसे बड़े । दोनों पढ़ने गए थे । सौतेले होने पर भी मुझे खूब प्यार करते । उन्होंने ही मुझे बताया था कि क्रेमलिन के सब लोग मुझे ‘क्रेमलिन की राजकुमारी’ कहते हैं, जबकि उन दोनों को ‘क्रेमलिन का राजकुमार’ कोई नहीं कहता ।

लोग मुझे ‘क्रेमलिन की राजकुमारी’ कहते हैं और उन्हें ‘क्रेमलिन का राजकुमार’ नहीं कहते, तो इसमें मैं क्या करूँ ? मैंने तो लोगों से कहा नहीं कि मुझे राजकुमारी कहो ।

हो सकता है कि जिस समय मेरा जन्म हुआ उस समय का मेरे पापा का अप्रतिम प्रताप और प्रभाव मुझे राजकुमारी कहला रहा हो । हो सकता है कि मेरी शब्द-सूरत में लोगों को कुछ असाधारणता नज़र आती हो । इसीलिए सामन्तवादी परम्परा समाप्त हो जाने पर भी उनके मन का संस्कार न जाता हो और मुझे “राजकुमारी” कह कर जन सामान्य से मेरी विशिष्टता का बोध कराया जाता हो ।

पर इतना मुझे जरूर बताया गया कि जिस दिन मेरा जन्म हुआ उस दिन सारे रूस में खूब खुशियाँ मनाई गईं । पता नहीं वे खुशियाँ मेरे पापा को खुश करने के लिए मनाई गईं या सचमुच ही मेरे पैदा होने पर लोगों को उतनी अपार खुशी हुई ।

पापा ने मेरा नाम भी छांट कर रखा था—‘स्वेतलाना’—विश्व की लघु ज्योति । मैं उनके लिए विश्व की देदीप्यामान ज्योति थी । फिर लघु किस लिए ? लघु न होती तो पापा के घर में ही कैद क्यों रहती, विश्व भर में न फैल जाती । जैसे मेरे जन्म से पापा ने विश्व की ज्योति को लघु रूप में अपनी गोद में और अपने घर में पा लिया, इसीलिए मेरा नाम ‘स्वेतलाना’ रखा ।

बाद में मुझे पता लगा कि मुझे गौरव प्रदान करने के लिए रूस के न जाने कितने माता-पिताओं ने अपनी नवजात बच्चियों का नाम

स्वेतलाना रखा था । कितने ही लोग यह साध मन में लिए रहे कि उनकी अगली बच्ची हो तो उसका नाम स्वेतलाना रखें ।

बच्चियों के ही नहीं, कई सौन्दर्य प्रसाधनों के नाम “स्वेतलाना” रखे गए । जब मैं बड़ी हो गई थी तब भी रूस में मेरे नाम वाली एक खास खुशबू बड़ी लोकप्रिय थी । सचमुच ही मेरा नाम इतना लोकप्रिय है और मेरे नाम में इतनी खुशबू भरी है, यह मैं पहले कहाँ जानती थी ।

अपने उसी जन्म दिवस की बात कहती हूँ । उस दिन पापा भी खूब प्रसन्नता की मुद्रा में थे । उन्होंने अपने सब सरकारी कामकाज की छुट्टी रखी और हम सब पिकनिक पर गए—मैं, पापा, माँ और मेरे दोनों भाई ।

हम सब नाव में बैठे । पापा और माँ ने पतवार संभाली । जब नाव पानी को चीरती आगे बढ़ चली तो मैंने देखा कि पानी में मछलियाँ तैर रही हैं । मुझे बड़ी अच्छी लगीं । क्या ये मछलियाँ सदा ही पानी में रहती हैं? इन्हें कैसी मौज रहती होगी? कैसी चंचल और चपल । मैंने पापा से कहा—“पापा, मैं भी मछली बनूँगी ।”

पापा मेरी ओर देखकर मुस्कराये, पर उन्होंने मेरी बात का कोई उत्तर नहीं दिया ।

जब नदी के परले पार पहुँच गए तो पापा, माँ और मेरे दोनों भाई मछली पकड़ने बैठ गए । किनारे पर बैठकर उन्होंने अपनी-अपनी बंसी पानी में डाल दी । मैं इधर-उधर उछल कूद मचाती रही ।

पास के पौधे पर बैठी एक तितली मेरी ओर उड़ी । मछली पकड़ने का दृश्य मुझे निरानन्द लग रहा था । मैं उस रंगबिरंगी तितली को पकड़ने के लिए उसके पीछे दौड़ी । तितली कभी इस फूल पर, कभी उस फूल पर । वह उड़ती और मैं पकड़ने के लिए उसका पीछा करती ।

और जब एक बार मैं उस रंगबिरंगी तितली को पकड़ पाई तो खुशी के मारे मैं किलकारी मार उठी । तितली को पकड़-पकड़े मैं अपने पापा के पास पहुँची और मैंने कहा—“पापा, मैं तितली बनूँगी ।”

पापा ने मेरी इस बात पर ध्यान नहीं दिया । मैं उदास होकर

फिर पेड़ों की तरफ लौट आई । मैंने देखा कि एक गिलहरी जंगली अखरोट कुतर-कुतर कर खा रही है । वह कभी इस पेड़ पर भागती है, कभी उस पेड़ पर । मुझे गिलहरी की चंचलता खूब भाई । इस बार मैं दौड़ी-दौड़ी अपनी माँ के पास गई और मैंने माँ से कहा—“माँ, मैं गिलहरी बर्नगी ।”

मेरी माँ ने भी मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया ।

मैं फिर लौट पड़ी नदी किनारे के पेड़ों की ओर । एक खरगोश फुढ़कता हुआ मेरे सामने से निकल गया । मुझे पेड़ के उपर से किसी अनजान चिड़िया की सुरीली आवाज सुनाई दी । पता नहीं, उस आवाज में क्या मोहिनी थी कि उस का पीछा करते-करते मैं पेड़ पर चढ़ गई । पेड़ पर चढ़ कर मैं उस चिड़िया के पास तक पहुँची कि वह उड़ गई । परन्तु वहीं टहनियों के बीच मैंने एक छोटा-सा घोंसला देखा । वह घोंसला मुझे बड़ा भला लगा । घोंसले में झुक कर मैंने देखा, उसमें दो अण्डे रखे थे । अण्डे मैंने उठा लिए । उन्हें खूब सावधानी से संभालते हुए मैं नीचे उतरी ।

मैं अपने दोनों भाइयों के पास गई । उन्हें मैंने वे दोनों अण्डे दिखाए और मछली पकड़ने की ओर से उनका ध्यान हटाने की कोशिश करते हुए मैंने कहा—“यह देखो क्या है ?”

एकाग्रता भंग करने का मेरा यह प्रयास उन्हें अच्छा नहीं लगा । अण्डों की ओर एक उपेक्षा भरी दृष्टि फेंकते हुए उन्होंने मेरी माँ से शिकायत की—“यह देखो, क्या उठा लाई ?”

माँ ने मुझे इशारे से बुलाया और पूछा—“तेरी झोली में क्या है ?” मैंने झोली माँ के आगे रख दी । मैं सोचती थी कि माँ मेरी इस नई बहादुरी से प्रसन्न होगी । परन्तु मैंने देखा कि वह प्रसन्न नहीं हुई । उल्टा नाराजगी के से भाव से पूछा—“ये कहाँ से लाई है ?”

मैंने सामने के पेड़ की ओर इशारा कर दिया ।

माँ ने कहा—“उन्हें जहाँ से लाई है, वापस वहीं रख कर आ ।” मेरी समझ में माँ की यह हरकत नहीं आई । परन्तु उसकी दृष्टि में कुछ ऐसी विव्हलता थी कि मैं चुपचाप वापस चली गई और उन्हें यथास्थान रखने के लिए पेड़ पर चढ़ने लगी ।

मैं घोंसले के पास पूरी तरह पहुँच भी नहीं पाई थी कि अचानक मेरी भोली उलट गई और वे दोनों अप्पे जमीन पर गिर कर टूट गए।

मैं नीचे उतर आई।

माँ ने पूछा—“अप्पे घोंसले में रख आई ?”

मैं झूठ न बोल सकी। मैंने कहा—“माँ, वे तो मेरे ऊपर चढ़ते-चढ़ते ही नीचे जमीन पर गिर कर टूट गए।”

माँ ने मन ही मन अपना माथा पीट लिया। उन्हें लगा कि जैसे मेरे जन्म दिन पर घटी इस छोटी-सी घटना से कोई अपशकुन हो गया है।

जब मछली पकड़ने के काम से निबटकर हम सब वापस घर की ओर चले तब पापा अपने विचारों में खोये हुए थे, माँ अपशकुन के भय से उदास थी। कोई कुछ नहीं बोल रहा था। मैंने ही माँ से पूछा—“माँ, क्या पेड़ों के भी बच्चे होते हैं ?”

माँ मेरी ओर ऐसे देखने लगी जैसे मैं कोई पागलपन की बात कह रही होऊँ।

मैंने स्वयं ही अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहा—“जैसे मैं तुम्हारी बच्ची हूँ, ऐसे क्या पेड़ों के बच्चे-बच्ची नहीं होते ?”

जब इस पर भी माँ कुछ नहीं बोली तब फिर मैंने ही बात को आगे बढ़ाते हुए कहा—“माँ, मुझे तो ऐसा लगता है कि ये चिड़ियाएं ही पेड़ों की बच्चियाँ हैं।”

मेरी माँ मेरे चेहरे की ओर ऐसे देखने लगी जैसे मैं कोई फिलासफर होऊँ—और मैंने कोई बड़ी भारी तत्व ज्ञान की बात कह दी हो।

फिर मैंने पूछा—“माँ, घोंसला क्या होता है ?”

अब माँ चुप न रह सकी बोली—“घोंसला पेड़ों की बच्चियों का पालना होता है, जिसमें वे अपने बच्चे आराम से सुलाया करती हैं ?”

“तो क्या उन चिड़ियों के भी बच्चे होते हैं ?”

“हाँ, क्यों नहीं। वे अप्पे किसी चिड़ियाँ के ही तो बच्चे थे ?”

“अच्छा, मैं अब समझी। पेड़ों के बच्चे पक्षी और उन पक्षियों

के बच्चे अण्डे । क्यों यही बात है न ?”

माँ ने कहा—“हाँ ठीक ।”

मैं बोली—“तब तो माँ, आज मैंने बहुत बुरा काम किया । मैंने उस चिड़िया के दो बच्चों को मार डाला । अब वह चिड़िया जब उस घोंसले में पहुँचेगी और वहाँ अपने अण्डों को नहीं पाएगी तो बड़ी उदास होगी ।”

माँ बोली—“और क्या ?”

“अच्छा माँ, ये चिड़ियाँ घोंसला क्यों बनाती हैं, और कैसे अण्डे देती हैं ?”

“पगली, यह तो सृष्टि का क्रम है । अगर वे घोंसला न बनाएं तो वे चिड़ियाएँ और उनके बच्चे रहें कहाँ ?”

“क्या हरेक चिड़िया अपना घोंसला बनाती है ?”

“हाँ, क्यों नहीं ।”

“तो माँ, मैं भी चिड़िया बनूँगी और मैं भी अपना एक घोंसला बनाऊँगी ।”

यह सुनते ही पता नहीं मेरी माँ को उन दोनों अण्डों की नियति याद आई, या उस घटना में उसे भविष्य के लिए कोई अशुभ संकेत दिखाई दिया, या क्या हुआ, पता नहीं उसने मुझे कसकर अपने से चिपटा लिया और अपनी आँखों में अकस्मात् आई नमी को रूमाल से पोंछ लिया ।

×

×

×

उसके बाद जो सबसे महत्वपूर्ण घटना मुझे याद है और जिसे मैं बार बार भुलाना चाहती हूँ किन्तु भूल नहीं पाती, वह है उससे अगले वर्ष के नवम्बर मास की ।

७ नवम्बर, १९३२ । १९१७ में हुई सोवियत क्रान्ति की पन्द्रहवीं वर्ष गाँठ का सार्वजनिक समारोह । लाल चौक पर खूब शानदार परेड हुई । मेरे पिता ने लेनिन की समाधि पर खड़े होकर सलामी ली । उस समय सलामी लेते हुए उनकी भव्य मुद्रा मेरी आँखों में ज्यों की त्यों समाई है । मेरी माँ भी उस परेड में गई थीं । क्यों न जाती—१९१७

की क्रान्ति में उसने महत्वपूर्ण भाग लिया था और वह उसी क्रान्ति की उपज थी। तभी तो मेरे पिता की उस पर नजर पड़ी थी और उन्होंने ऐसी क्रान्तिकारी महिला को अपनी अधीर्गिनी बनाना स्वीकार किया था।

विवाह के प्रारम्भिक दिनों में मेरे माता-पिता परस्पर एक दूसरे के प्रति कितने अनुरक्त रहे, यह मैं नहीं जानती। परन्तु अपनी उम्र के सातवें साल के प्रारम्भ से ही मैं देख रही थी कि बीणा के तार कहीं न कहीं इतने कस गए हैं कि चाहे जब उनके टूटने की नौबत आ सकती है।

बाद में मुझे पता लगा कि उन्हीं दिनों के आसपास मेरी माँ ने इंजिनीयर बनने की इच्छा से औद्योगिक अकादमी में दाखिला लेना चाहा था, किन्तु मेरे पिता यह पसन्द नहीं करते थे कि रूस के सर्वाधिकारी की पत्नी सामान्य व्यक्तियों की तरह उस अकादमी में पढ़ने जाए। परन्तु मेरी माँ निश्चय कर चुकी थी। और जब वह एक बार कोई निश्चय कर लेती थी तब उस निश्चय से उसे डिगाना आसान नहीं था। उसके मन को क्रान्तिकारी बनाने में उसके बच्चपन की परिस्थितियों ने क्या हिस्सा लिया, यह मैं नहीं कह सकती, पर मुझे लगता है कि वह जन्मजात क्रान्तिकारी थी। जो बात उसे ठीक लगती थी उसे ठीक और जो बात गलत लगती थी उसे गलत कहने में कभी संकोच उसने नहीं किया।

आखिर अकादमी में दाखिला उसने लिया। पापा कुछ और खिच गए। और माँ हम बच्चों को, पापा को, गृहस्थी को, और अकादमी की पढ़ाई को—सबको एक साथ साधने का प्रयास करती। कैसी छुरे की धार पर चलना पड़ता था उसे। फिर भी वह मुँह पर सहज मुस्कान लिए, अपने अन्तर्द्वन्द्व को अपने अन्दर ही छिपाए सब विषम कोणों को समकोणों में बदलती चली जा रही थी।

पीछे मुझे यह भी पता लगा कि मेरे पिता उन दिनों क्रांति-विरोधियों के सफाये का जो गुप्त अभियान चला रहे थे, जिसमें उनके अन्य लैफिटनैण्ट भी, इच्छा से या अनिच्छा से, या केवल जी-हजूरी की आदत की वजह से, सदा पूरी तरह सहमत ही होते थे, मेरी माँ उससे

भी सहमत नहीं थी । वह इसे अनावश्यक रक्तपात की संज्ञा दिया करती थी ।

मेरे पिता सिगार पीने के आदी थे । पर धीरे-धीरे अपनी पत्नी के विचारों पर विजय न पा सकने के क्षोभ के कारण उन्होंने शराब भी अधिक पीनी शुरू कर दी । शायद पार्टी की भलाई-के नाम से चलाए जा रहे गुप्त हत्याकाण्ड का अपने मन में भी औचित्य सिद्ध करने के लिए उनके पास शराब से बढ़कर कोई अन्य साधन नहीं था ।

सात नवम्बर की परेड से माँ लौटकर आई तो थकी हुई थी, किन्तु चेहरे पर प्रसन्नता थी । शायद पति का इतना प्रताप देखकर मन ही मन गर्व महसूस कर रही हो ।

कान्ति की वर्षगांठ के उपलक्ष्य में ही द नवम्बर को वोरोशिलोव के घर भोज का आयोजन था । पापा के साथ माँ भी गई, खूब सज-धज कर, उत्सव की सी पोशाक में । माँ को ऐसी सजी-बजी देख कर मेरी इच्छा हुई कि मैं भी माँ के साथ जाऊँ, परन्तु मुझे समझाया गया था कि वडे लोगों के समारोहों में बच्चे नहीं जाया करते । परन्तु जाने से पहले माँ मुझे प्यार अवश्य कर गई ।

उस भोज में क्या हुआ, इसका विस्तृत विवरण कभी किसी ने मुझे नहीं बताया । केवल इतना पता लगा कि पापा और माँ में किसी बात पर कहा-सुनी हो गई । उन दिनों मेरे पापा को सामूहिक सहकारी कृषि की जैसी सनक सवार थी उसके प्रति, या पार्टी की शुद्धि के नाम पर विरोधियों के सफाये का जो नृशंस और हिसक षड्यन्त्र त्रल रहा था उसके प्रति, माँ ने शायद कोई ऐसी चुभती बात कह दी कि मेरे पापा उसे बदाश्त नहीं कर सके । शायद अपने अन्तरंग मित्रों और जी-हजूरी सिपाहसालारों के मध्य इस प्रकार का वाक्य उन्हें अपना अपमान प्रतीत हुआ हो । वैसे भी उस समय वे शराब के नशे में थे इसलिए उन्होंने जो कुछ किया उसे सामान्य पैमाने से नहीं नापा जा सकता । उन्होंने भरी महफिल में मेरी माँ को लताड़ना शुरू कर दिया । जी भर कर गालियां दीं । उनके मन में माँ के प्रति जो आक्रोश कुछ समय से भरा था उसे एकदम उँडेल दिया ।

माँ भी इस अपमान से आहत हो उठी । स्वाभिमानिनी महिला

शान्त कैसे रहती । गुस्से से उसका मुँह तमतमा आया । आँखों से चिनगारियाँ-सी बरसने लगीं । पर उसने शराब नहीं पी थी, इसलिए देश-काल और परिस्थिति का बोध उसका कायम था । डिक्टेटर पति की मर्यादा का भी उसे ध्यान था । वह बाथरूम में जाने के बहाने से उठ खड़ी हुई और वोरोशिलोव के घर की पार्टी को छोड़कर सीधी क्रेमलिन चली आई ।

मैं तब तक सो चुकी थी ।

सबेरे जब उठी तो पता लगा कि नादिया सर्येब्ना आलेलीयूयावा—मेरी माँ—अब संसार में नहीं रही ।

मैं हैरान थी कि पार्टी में जाते वक्त तो इतनी हँसी-खुशी के साथ मुझे प्यार करके गई थी पर पार्टी से लौटने के इतनी देर बाद भी मुझे प्यार करने के लिए वह क्यों नहीं उठ रही है ?

×

×

×

मृत्यु क्या होती है—यह तब मैं क्या जानती थी ? जानती तो अब भी नहीं हूँ । परन्तु उसके बाद से मृत्यु नामक अनोखे घातक हथियार के बार इतनी बार सहे हैं कि जैसे मैं उसकी अभ्यस्त हो गई हूँ ।

मृत्यु से अन्त्येष्टि तक की मेरी माँ के सम्बन्ध में होनेवाली सब क्रियाएँ मुझसे छिपाई गईं । परन्तु अगले दिन दिन भर जब सब ओर तलाश करने पर भी मुझे मेरी माँ नहीं दिखाई दी तब मैं उदास हो गई । मेरे मन में बार-बार आया कि मैं दौड़कर पापा के पास जाऊँ और उनसे पूछूँ कि मेरी माँ कहाँ है । पर मुझे पापा भी कहीं दिखाई नहीं दे रहे थे । मैं जिस कमरे में समझती थी कि यहाँ पापा होंगे, वहाँ मुझे जाने नहीं दिया गया ।

क्रेमलिन के उस विशाल प्रासाद में मैं चारों ओर एक कमरे से दूसरे और दूसरे से तीसरे कमरे में भटकती फिरती थी, पर माँ कहीं नज़र नहीं आती थी । मैं इतनी भटकी, इतनी भटकी कि थक कर चकनाचूर हो गई । कहीं माँ मुझ से किसी बात से नाराज तो नहीं हो गई ।

मैं मन ही मन सोचने लगी कि मैं अब कभी पेड़ पर नहीं चढ़ूँगी । अब कभी किसी पक्षी के घोंसले में से अण्डे उठाकर नहीं लाऊँगी । अब कभी ऐसा कोई काम नहीं करूँगी जिससे मेरी माँ के दिल को ठेस लगे ।

थकान के कारण शाम को बिना खाये ही मैं सो गई ।

अचानक आधी रात को मुझे कुछ खुसुर-पुसुर सुनाई दी ।— जैसे कोई दो व्यक्ति आपस में बात कर रहे हों ।

यह आवाज कहाँ से आ रही है ?

ध्यान लगाकर सुना तो लगा कि बाथरूम की तरफ से आवाज आ रही है ।

इस वक्त बाथरूम में ये कौन हो सकते हैं ?

फुस-फुसाहट की आवाज कुछ तेज हो गई । मैंने अपने कान उसी आवाज की ओर केन्द्रित कर दिए ।

हैं ? यह तो किसी स्त्री की सी आवाज है ।

कौन हो सकती है यह स्त्री ? इस वक्त आधी रात में बाथरूम में किससे बात कर रही है ?

आवाज के उत्तार-चढ़ाव और स्वर-भेद से लगता है कि एक नारी कण्ठ है, दूसरा पुरुष-कण्ठ । एक नारी और दूसरा पुरुष—कौन होंगे ये दोनों ?

मेरी उत्सुकता बढ़ गई । मैंने दीवार से अपने कान लगाए । आवाज जोर की आने लगी । लगता है कि नारी और पुरुष में किसी बात पर गरमा-गरम विवाद हो रहा है ।

अचानक नारी के कण्ठ से रोने की और सिसकी की-सी आवाज आने लगी । रोने से मैंने पहचाना कि यह तो मेरी माँ की आवाज है ।

मेरी माँ रो क्यों रही है ?

कुछ क्षण बाद पुरुष का क्रोध भरा स्वर सुनाई दिया । फिर मेरी माँ की सिसकी भी बन्द हो गई । मुझे शंका हुई कि उसका किसी ने गला घोंट दिया है ।

मैं बेतहाशा उठकर भागी । जब बाथरूम के सामने पहुँची तो मुझे एक छायामूर्ति दिखाई दी । इस छायामूर्ति का डील-डौल और

वेश मेरे पिता से मिलता था । मूँछे भी ठीक वैसी ही ।

आया मूर्ति ने माँ को उठाकर लकड़ी के कुन्दे की तरह फर्श पर पटक दिया ।

इस दृश्य को देखकर मेरी चीख निकल गई ।

आया दौड़ी-दौड़ी आई । उसने मुझे गोद में लिया, प्यार किया । पूछा—“बेटी, क्या बात है ?”

मैंने पूछा—“पापा कहाँ है ?”

आया ने कहा—“वे तो सो रहे हैं ।”

फिर मैंने पूछा—“मेरी माँ कहाँ है ?”

आया ने मुझे और प्यार करते हुए कहा—“बेटी, अब तेरी माँ यहाँ नहीं...”

वह बात पूरी नहीं कर पाई थी कि मेरी रुलाई फूट पड़ी । मैंने रोते-रोते आया को बताया कि अभी मुझे कैसे भयानक स्वप्न आया है ।

आया ने मेरे मुँह पर हाथ रख दिया—“ना बेटी, ना, आगे से यह स्वप्न किसी को मत सुनाना ।”

अगले दिन से पापा ने मुझे अपने कमरे में सुलाना शुरू कर दिया बहुत बार मेरे मन में आया कि उस स्वप्न की बात उन्हें सुनाऊँ और उनसे पूछूँ कि हकीकत क्या है, परं किसी को भी वह स्वप्न सुनाने की मेरी हिम्मत नहीं पड़ी ।

३

एक दिन मैंने अपने पापा से कहा—“पापा, मैं भी स्कूल में पढ़ने जाऊँगी ।”

पापा ने कहा—“तू अभी बच्ची हैं । अभो से स्कूल जाकर क्या करेगी ?”

“नहीं पापा, अब मैं बड़ी हो गई हूँ। तुम्हारे घुटनों से ऊपर तक पहुँचते तो मुझे असर्वा हो गया। पापा, देख लेना, कुछ दिन बाद मैं तुम्हारी कोहनी तक और फिर उसके बाद कन्धे तक पहुँच जाऊँगी। अब मैं बच्ची थोड़े ही हूँ।”

पापा मेरे बचपन की बात पर हँसने लगे।

मैंने कहा—“पापा, मेरे भाई भी तो पढ़ने के लिए स्कूल जाते हैं। उन्हें तो आप नहीं रोकते। मुझे क्यों रोकते हैं?”

पापा ने कहा—“अच्छा तुझे भी नहीं रोकेंगे। पर तुझे स्कूल जाने की ऐसी क्या जल्दी पड़ी है?

मैंने कहा—“पापा, घर में मेरा मन नहीं लगता।”

इसका पापा ने कोई जवाब नहीं दिया। उनके चेहरे पर अचानक उदासी छा गई। शायद उन्हें यह समझते देर नहीं लगी कि घर में मेरा मन क्यों नहीं लगता है?”

मैं कुछ दिनों से देख रही थी कि जब से मेरी माँ नहीं रही तब से पापा मेरे साथ कुछ अधिक समय बिताने लगे हैं। मुझे पापा पहले ही कम प्यार नहीं करते थे, पर अब वे और अधिक प्यार करने लगे। इस प्यार की बदौलत मैं भी उनसे कुछ अधिक ही खुल गई थी।

मैंने पूछा—“क्यों पापा, जिस तरह मेरी माँ मुझे छोड़कर चली गई है, क्या इसी तरह और बच्चों की माएँ भी उन्हें छोड़ कर चली जाती हैं? आया कहती थी कि और बच्चों की मातृं तो इस तरह से नहीं जातीं। क्यों पापा, वह भूठ कहती थी न?”

पापा किंकर्तव्यविमूढ़ से खड़े रहे। उनसे कुछ जवाब देते नहीं बना। मुझे गोद में उठाकर उन्होंने प्यार किया और बोले—“कल से तू भी स्कूल जाएगी।”

मेरा मन खुशी से नाच उठा।

X

X

X

अगले दिन से मैं स्कूल जाने लगी। मेरे लिए अलग गाड़ी की व्यवस्था हो गई। आया मेरे साथ गई।

पहले दिन बच्चों की भीड़ देखकर मैं सहम गई। इतने सारे

बच्चे ! ये हमारे घर क्यों नहीं आते ? वहाँ तो मैं अपने साथ खेलने वाले बच्चों के लिए तरसती रहती हूँ । और यहाँ ये इतने ! इन सब के साथ मैं खेलूँगी ।

पर ये बच्चे मेरी ओर ऐसे अजीब-अजीब ढंग से क्यों देखते हैं ? मेरी गाड़ी की ओर क्यों ताकते हैं ? मेरी आया से क्यों डरते हैं ?

मैंने आया से पूछा ।

आया ने कहा—“नहीं, कोई खास बात नहीं । अभी तू नई-नई आई है न । कुछ दिन बाद ये सब भी तुझ से परिचित हो जाएंगे, तब तेरी ओर इस तरह नहीं देखेंगे ।”

फिर थोड़ी देर ठहर कर बोली—तू क्रेमलिन की राजकुमारी है न, स्टालिन की पुत्री । तेरे पिता हैं इस देश के बादशाह । इसलिए भी सब तुझे उत्सुकतापूर्वक देखते हैं ।”

मैं तब नहीं जान पाई कि उन बच्चों की आंखों में मेरे प्रति केवल उत्सुकता ही नहीं थी, बल्कि एक खास तरह का सम्भ्रम भी था ।

मुझे आश्चर्य तो तब हुआ जब स्कूल की अध्यापिकाओं में भी मेरे आते ही खुसर-पुसर सी होने लगी और वे हाथों-हाथ मेरी अगवानी के लिए एक दूसरी से होड़ -सी करने लगीं ।

स्कूल से लौटते हुए मैंने आया से पूछा—“ये जो इतने सारे बच्चे हैं, ये कहाँ रहते हैं ?”

“अपने-अपने घरों में ।”

“घर से स्कूल तक कैसे आते हैं ?”

“पैदल ही आते हैं, और कैसे आंएंगे ? बहुत दूर किसी का घर हुआ तो वह बस से स्कूल पहुँच जाता है ।”

“बस क्या होती है ?”

“किसी दिन बाजार की सड़क पर चलती हुई दिखाई देगी तो तुझे दिखाऊँगी ।”

“अच्छा, हमारी गाड़ी की तरह वह भी सड़क पर ही चलती है ?”

“हाँ और क्या ! यूँ समझ न कि हमारी यह गाड़ी छोटी-सी है, इसमें ४-५ आदमी बैठते हैं, वह एक बड़ी गाड़ी होती है जिसमें

५०-६० तक मुसाफिर बैठते हैं।”

मैंने आया से पूछा—“अच्छा आया, यह बताओ कि क्या ये बच्चे भी मेरी तरह मातृहीन हैं?”

आया ने कानों पर अपने हाथ रखे और बोली—“ऐसी बात नहीं बोलते विटिया रानी! इन सब की माँएँ भी हैं और बाप भी। इनमें शायद ही कोई ऐसा अभागा होगा जिसकी माँ या बाप या दोनों न हों।”

“अच्छा आया, जिसके माँ या बाप नहीं होते, वह अभागा होता है?”

आया के जवाब देने से पहले ही हमारी गाड़ी क्रेमलिन के विशाल द्वार तक पहुंच गई।

धीरे-धीरे मैं स्कूल के बातावरण की अभ्यस्त होती गई। मैं शौक से पढ़ती थी, खेलती थी। मेरी हमजोलियाँ भी अब मुझसे उतनी दूर-दूर नहीं रहतीं। बल्कि अपने खेल के बीच मुझे पाकर वे प्रसन्न होतीं। मुझे उनके साथ खेलने में बड़ा आनन्द आता।

पर मैं एक बात देखकर हैरान होती। खेल में जब कभी मैं हार जाती, तब मुझे कोई हारा हुआ न मानती और मेरे बदले कोई और लड़की मेरे हारने की ड्यूटी पूरी कर देती। मुझे यह बात बुरी नहीं लगती। मुझे यही लगता कि मेरी सब सहेलियाँ कितनी अच्छी हैं जो मुझे इतना चाहती हैं और मुझे इतना प्यार करती हैं।

पर एक दिन विषम परिस्थिति पैदा हो गई।

आँख मिचौनी खेलते-खेलते मैं पकड़ी गई, मैं ‘चोर’ बनी। अब मेरी बारी थी कि मेरी आँखें बन्द की जातीं। किन्तु एक लड़की ने मेरे बदले अपने आप को आँखें मीचे जाने के लिए पेश कर दिया।

एक बड़ी सी लड़की अड़ गई—“नहीं जी, स्वेतलाना ही ‘चोर’ है, अपनी बारी यही पूरी करेगी। इसके बदले कोई और ‘चोर’ नहीं बन सकता।”

मुझे ‘चोर’ बनने में कोई ऐतराज नहीं था। आखिर खेल ही तो था। खेल में सभी को अपनी बारी पर ‘चोर’ बनना ही पड़ता है।

परन्तु तभी मैं क्या देखती हूँ कि अध्यापिका का एक तमाचा कसकर उस लड़की के गाल पर लगा जो मुझे ही ‘चोर’ बनाने की

जिद कर रही थी ।

सब लड़कियाँ सहम गईं । और उसके बाद कभी किसी ने मुझे 'चोर' बनाने की जिद नहीं की ।

परन्तु मुझे यह अच्छा नहीं लगा । 'क्रेमलिन की राजकुमारी' का यह कैसा आदर है ? यदि खेल में मेरी प्रत्येक सहेली को अपनी बारी आने पर 'चोर' बनने का अधिकार है तो मुझे इस अधिकार से वंचित क्यों किया जाता है ?

X

X

X

कभी-कभी मेरे पापा मुझे साथ लेकर मेरी माँ की कब्र पर भी जाते और काफी देर तक वहाँ गुमसुम खड़े रहते । फिर लौट आते । परन्तु काफी देर तक उनके चेहरे पर उदासी की रेखा खिची रहती । मैं भी देर तक माँ को याद कर करके विह्वल होती रहती । पर फिर अपनी पढ़ाई में और खेल में खो जाती ।

पहले मैं समझती थी कि मेरे पापा का स्वभाव बड़ा रुखा है । उनके सामने जाते हुए क्रेमलिन के सभी कर्मचारी थरथर काँपते थे । उनके अत्यन्त निकट सहयोगियों को भी मैंने उनके सामनेआँखें सीधी करके ताकते या उनके साथ बहस करते नहीं देखा । मैं सोचती थी कि ये भी कैसे विचित्र लोग हैं—क्या आपस में कभी इन लोगों की कहासुनी नहीं होती, जबकि हम बच्चों को तो दिन में कितनी ही बार इस प्रकार के अवसर आते हैं ।

मैं वर्ष प्रति वर्ष ज्यों-ज्यों बड़ी होती गई त्यों-त्यों पापा के कामों में रुच लेने लगी । नौकरों के भरोसे न छोड़कर मैं उनकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्तियों की स्वयं देखभाल करने लगी । मैं यह प्रयत्न करने लगी कि उनके रात के भोजन के समय मैं उनके साथ अवश्य बैठूँ । दिन में तो मैं स्कूल में होती थी । मेरी उपस्थिति से मेरे पापा भी प्रसन्न होते ।

मैं कभी ऊटपटांग चुटकुले सुनाकर उन्हें हँसाने का प्रयत्न करती । मैं कभी-कभी उनके साथ शतरंज भी खेलती । कभी उनका मन होता तो मैं उन्हें पियानो भी बजा कर सुनाती ।

जब मैंने अपने पापा को संगीत में रस लेते देखा तो मेरे मन में आया कि जो व्यक्ति संगीत में रस ले सकता है वह शुष्क-हृदय नहीं हो सकता ।

बाद के जीवन में तो मैंने उन्हें कविता में और कवियों की चर्चा में भी रस लेते देखा है । अपने स्कूल के जीवन तक जो थोड़ा बहुत साहित्य मैंने पढ़ा था, मैंने देखा कि मेरे पापा उसके सम्बन्ध में कभी-कभी मुझसे प्रश्न करते और अक्सर मेरा उचित पथ-प्रदर्शन भी करते ।

मैंने चित्र कला तथा अन्य कलाओं में भी उन्हें रस लेते देखा था । धीरे-धीरे उनके स्वभाव के रूखेपन के बारे में मेरी धारणा बदलती गई । रूखापन उनके स्वभाव का अंग नहीं था । वह उन्होंने ऊपर से जानबूझकर ओढ़ा हुआ था । बाद में जब मुझे यह पता लगा कि सबसे पहले उन्होंने जो रचना लिखी थी, वह एक कविता थी, तब मैं उनके मन के अन्दर गुप्त रूप से बैठे उस कवि को अनायास ही श्रद्धा से देखने लगी ।

क्या मेरे अन्दर कविता के प्रति या अन्य ललित कलाओं के प्रति जो सम्मान है वह उन्हीं के अवचेतन मन में छिपे उस संस्कार की देन है ?

मेरी आया ने एक बार मुझे सुनाया था कि जब वे साइबेरिया के नजरबन्दी शिविर में कैद थे, तब बाद में बनने वाली मेरी नानी ने उन्हें किसी खाने की चीज़ का पार्सल भेजा था । मेरी नानी मन ही मन मेरे पापा से बहुत प्रभावित थी । मेरी माँ की शादी पापा से नहीं हुई थी, तभी की बात है । उस पार्सल के मिलने के पश्चात् मेरे पापा ने मेरी भावी नानी को लिखा था……“पार्सल के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद । पर मेरे लिए इतना खर्च करने की क्या आवश्यकता थी । आखिर कठिनाई के इन दिनों में तुम्हें भी तो पैसे की ज़रूरत होगी । यदि तुम मुझे कुछ भेजना ही चाहती हो तो और कुछ मत भेजो, केवल पोस्ट कार्ड के आकार की कुछ तस्वीरें भेज दो । क्योंकि मैं इस समय जिस प्रदेश में हूँ वहाँ प्रकृति इतनी कठोर और परिवर्तन-शून्य है कि आँखें किसी सुन्दर प्राकृतिक दृश्य को देखने के लिए तरसती रहती हैं । दूर तक टुण्ड्रा की बर्फ ही बर्फ दिखाई देती है ।

इस शापग्रस्त प्रदेश में रहते-रहते मेरे मन में बार-बार यह इच्छा होती है कि किसी प्रकार प्रकृति की विविध सुन्दर दृश्यावलि देखने को मिले—भले वह कागज पर ही क्यों न हो । ”

क्या मेरी भावी नानी और मेरी मां पापा के इसी कवि-हृदय पर मुग्ध हुई थीं ? क्या मेरी मां ने ज्ञार के समय के उस भयंकर क्रांतिकारी को इसी कारण अपने यौवन-पुष्प का प्रथम अर्ध्य चढ़ाने का फैसला किया था ?

उन्हीं दिनों पापा एक बार मास्को से बाहर कहीं काम से गए थे । उस बार वे मुझे अपने साथ नहीं ले जा सके । अगले दिन ही उनकी चिट्ठी मेरे नाम आई—

“स्वेतो बिटिया, तेरी बड़ी याद आती है । हर क्षण तू ही मेरी आंखों के सामने घूमती रहती है । तेरे बिना सब नीरस लगता है । अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना । मैं जल्दी ही लौटूँगा ।

पापोचका ।”

पापा ने यह क्या लिखा—‘पापोचका ?’—तो क्या मेरे पापा अब मेरे साथ निरे बच्चे हो बन जाएंगे । नहीं तो पापा के स्थान पर पापोचका (लघु पिता) क्यों लिखते ?

फिर एक बार बाहर जाने पर चिट्ठी लिखी ?

“मेरी छोटी सी चिरैया, तेरी चिट्ठी मिली । तेरी भेजी मछली भी । अब मेरे लिए और मछली मत पकड़ना ।... मैं उदास हूँ, क्योंकि मेरी छोटी सी गृहपालिका मेरे साथ नहीं है । जल्दी ही और चिट्ठी भेजना । तेरी बहुत-बहुत याद ।

तेरा सेक्रेटरी
पापा, स्टालिन”

मेरे पापा, तुम कितने अच्छे हो ! मैं भी तुम्हें कितना याद करती हूँ ।

X

X

X

सन् १९४२ की बात है । एक बार चर्चिल मेरे पापा से मिलने आए । मैं सोलहवां साल पार कर रही थी । मेरे शरीर और मन में

होड़ लग रही थी कि कौन एक दूसरे से बाजी मार ले जाए। अपने शरीर में होने वाले नए भराव और नए उभार को भी मैं महसूस कर रही थी। उन दिनों मन भी पता नहीं इतना कल्पना-शील क्यों हो गया था। बचपन में पढ़ी हुई परियों की कहानियाँ अब मुझे पढ़ने में अच्छी नहीं लगती थीं। पर कभी-कभी ऐसा महसूस अवश्य होता कि काठ के घोड़े पर बैठ कर राजकुमारी की तलाश में निकल पड़ने वाला कोई अज्ञात राजकुमार कहीं मेरी ही तलाश में न भटक रहा हो !

पहले कभी मुझे एकान्त अच्छा नहीं लगता था। अब जैसे मुझे एकान्त से भी प्रेम हो गया। पहले मैं कभी अकेली होते ही घबरा जाती थी—मुझे मां की याद आने लगती थी। अब कभी एकान्त का अवसर पाती तो मुझे उसमें भी आनन्द ही मिलता।

आया भी मेरे शरीर और मन में हुए परिवर्तन को भांप रही थी। अब वह सदा मेरे साथ ही नहीं चिपकी रहती। चाहे जब मेरी ओर से वेपरवाह हो जाती। मुझे उसकी यह उपेक्षा भली लगती और कुछ आत्मगौरव का-सा भान होता।

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने की बात मैं जानती थी। मैं यह भी जानती थी कि विन्स्टन चर्चिल ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री हैं और हिटलर के विरुद्ध युद्ध के प्रमुख सूत्रधार हैं।

उन दिनों शाम को पापा के खाने की मेज मैं ही सजाया करती थी और मुझे इसमें आनन्द आता था।

उस दिन भी मेज मैंने ही सजाई। मुझे याद है कि ज्यादा नहीं, कुल ६-७ व्यक्ति ही खाने की मेज पर हाजिर थे। अधिकांश वही व्यक्ति थे जो पापा के अन्तरंग थे और जिन्हें मैं बखूबी पहचानती थी। उस दिन खाना काफी देर तक चलता रहा। उन सबकी बात-चीत भी देर तक चलती रही।

किसी भी अन्य कर्मचारी का उस समय भोजन कक्ष में आना वर्जित था। मैं स्वयं आतिथ्य में व्यस्त रही। पापा ने भी मुझे अपने साथ मेज पर बैठने को नहीं कहा। मैं यह तो भांप रही थी कि किसी अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय पर परस्पर परामर्श हो रहा है, परन्तु वह

विषय क्या हो सकता है, यह जानने की मैंने कोई कोशिश नहीं की। मेरी उस ओर कोई रुचि भी नहीं थी। मैं अपनी ही कल्पनाओं की दुनिया में खोई हुई थी।

अलबत्ता यह बात मेरी नजर से ओझल नहीं रही कि मैं जब-जब कमरे में आती तो मिठा चर्चिल की आँखें मेरी ओर उठ जातीं। उन आँखों में क्या था? क्या केवल जिज्ञासा? या साथ में सन्देह भी?

शायद पापा ने भी मिठा चर्चिल की मेरा पीछा करती नजर को भाँपा था।

भोजन की समाप्ति के पश्चात् मैं अपने पापा और मिठा चर्चिल दोनों को सिगार पेश करने गई। मुझे पता था कि दोनों ही सिगार के शौकीन हैं। मेज पर बैठे अन्य लोगों को सिगार के बजाय वोदका में अधिक दिलचस्पी थी।

मेरे हाथ से सिगार लेते हुए पापा ने सहज सब के सामने ही मेरा हाथ पकड़ लिया। चर्चिल की ओर मुखातिब होकर बोले—“मिठा चर्चिल, आप जानते हैं, यह कौन है?”

चर्चिल ने सहज उत्सुकतावश पूछा—“कौन है?”

मेरे पाप ने मुझे अपने पास खींच लिया और मुझे अपनी छाती से सटा कर कस कर प्यार करते हुए बोले—‘मेरी बिटिया स्वेतलाना!’

चर्चिल के मुख से निकला—“बड़ी प्यारी बिटिया है।”

मैं इस प्रकार सब के सामने पापा द्वारा प्यार किए जाने से ही शर्म के मारे गड़ी जा रही थी कि मिठा चर्चिल के इस प्रशंसा-वाक्य से मैं और लजा गई। मेरा मुँह आरक्त हो उठा और मैं वहाँ से भाग खड़ी हुई।

बाद में मुझे पता लगा कि मिठा चर्चिल ने इस घटना का खूब रस लेकर वर्णन किया और वह वर्णन पश्चिमी देशों के प्रायः सभी अखबारों में छपा।

उसी वर्णन से संसार को पता चला कि रूस के तानाशाह की एक लड़की भी है और वे उससे प्यार भी करते हैं। और ये दोनों बातें एक आश्चर्य का रहस्योदयाटन मानी गईं।

कैसे विचित्र हैं दिन-रात राजनीति में विचरण करने वाले ये लोग ! क्या स्टालिन के पुत्री होना भी कोई आश्चर्य की बात है ? और फिर मिठांचिल की भी तो अपनी पुत्री थी । और जब मैं अपने पापा की बिट्ठिया थी तो क्या वे मुझे प्यार न करते ? क्या संसार के और पिता अपनी पुत्रियों से प्यार नहीं करते ?

असल में यह आश्चर्य इसलिए नहीं था, जैसा कि मुझे बाद में पता लगा, कि मैं स्टालिन की पुत्री थी या पापा मुझे प्यार करते थे । बल्कि यह आश्चर्य इसलिए था कि रूस के सम्बन्ध में और मेरे पापा के सन्बन्ध में पश्चिम के देशों ने मनमाना प्रचार कर करके एक अजीब-सी तस्वीर पेश कर रखी थी । मेरे पापा संसार के सबसे अधिक रहस्यपूर्ण व्यक्ति और मेरा रूस संसार का सबसे अधिक रहस्यपूर्ण देश समझा जाता था । मेरे पापा को हृदयहीन और रूस को पारिवारिक जीवन के सुख से वंचित देश चित्रित किया गया था । कुछ लोग तो इस अफवाह तक को एकदम सच समझते थे कि मेरे पापा ने रूस के चारों ओर एक लोहे की दीवार खड़ी कर रखी है और रूस सम्बन्धी कोई भी बात उस दीवार को भेद कर नहीं जा सकती । इसलिए मेरे पापा या रूस से सम्बद्ध किसी भी खबर को पाकर लोग ऐसा व्यवहार करते थे जैसे कि उन्होंने कोई बड़ा भारी रहस्य खोज निकाला हो ।

उसके बाद काफी अर्से तक मेरे पापा खूब व्यस्त और चिन्तातुर रहे—मैं केवल इतना ही जान सकी । रूस के आकाश पर उन दिनों कैसी काली छाया मंडरा रही थी और युद्ध के दौरान जनता को किन परेशानियों का सामना करना पड़ रहा था, इसका मुझे कोई आभास नहीं । कम से कम क्रेमलिन के राजप्रासाद में और मेरे कल्पना-लोक में किसी चीज़ की कमी नहीं थी । मैं पढ़ती रही और अपने मन के उड़नखटोले पर बैठ कर बेखटके उड़ती रही ।

एक दिन मेरी आया ने मुझे बताया कि, “याकोव नाजियों के साथ लड़ाई में मारा गया है ।” याकोव मेरा सौतेला बड़ा भाई था । मुझे खूब प्यार करता था ।

मेरे पापा ने इसे कब मोर्चे पर भेज दिया, मुझे पता भी नहीं लगा ।

क्या पापा को अपने उस पुत्र से मोह नहीं था ? क्या पापा नहीं जानते थे कि लड़ाई में भेजने पर उसकी यह नियति भी हो सकती है ? क्या पापा सचमुच हृदयहीन हैं ?

यह भी तो हो सकता है कि पापा ने मेरे भाई को इसलिए मोर्चे पर भेजा हो कि वे वैसा करना अपना कर्तव्य समझते थे । जो और युवक मोर्चे पर जाकर लड़ रहे हैं वे भी तो अपने माता-पिता की उतनी ही लाडली सन्तान हैं जितने मेरे पापा की सन्तान । और मेरे पापा ने सदा पारिवारिक मोह से अधिक अपने कर्तव्य को महत्व दिया । वे हृदयहीन नहीं हैं, बज्ज-हृदय हैं ।

उनके नाम के “स्टालिन” शब्द ने उनकी रग-रग में स्टील की ऐसी गरम लौहधारा प्रवाहित कर दी है कि जिस चीज़ को वे एक बार अपना कर्तव्य समझकर निश्चय कर लेते हैं उससे फिर संसार की कोई शक्ति उन्हें विरत नहीं कर सकती ।

याकोव की मृत्यु के समाचार से आकाश में निर्द्वन्द्व विचरण करता मेरा उड़नखटोला कुछ देर के लिए घरती पर आ रहा । कुछ दिन बाद वह फिर ज्यों का त्यों गगन-विहार करने लगा ।

परन्तु इसका इतना असर अवश्य हुआ कि मैं अपने दूसरे सौतेले भाई वैसिली से, जो याकोव से छोटा था किन्तु मुझ से चार साल बड़ा था, और अधिक प्रेम करने लगी । हालांकि वह बीसवाँ साल पार कर चुका था और पुरुषत्व तथा यौवन के शिखर पर आरोहण करता जा रहा था, किन्तु मुझे लगा कि उसे मेरे स्नेह और संरक्षण की आवश्यकता है ।

४

उन्हीं दिनों मैंने कालेज में प्रवेश किया ।

मेरा कालेज-प्रवेश भी खासा रोमाण्टिक था । मेरे साथ सदा एक

अंगरक्षक रहता था । जब मैं कालेज जाती तब भी वह मेरे साथ जाता और जब मैं क्लास-रूम के अन्दर चली जाती तब वह द्वार के बाहर खड़ा रहता ।

यहाँ भी मैंने देखा कि शुरू-शुरू में मेरे सहपाठी मुझसे सहमे रहते । मुझसे बात करते भी जैसे डरते थे । किन्तु मेरे प्रति उत्सुक आँखों का यहाँ भी अभाव नहीं था । प्रत्येक फैकल्टी के छात्र और छात्राएँ मुझे देखने के लिए आते । शायद मुझसे बात भी करना चाहते, किन्तु उनकी हिम्मत न पड़ती ।

कालेज-प्रवेश के पहले ही दिन एक अप्रिय घटना घट गई । इसे 'घटना' कैसे कहूँ शायद 'दुर्घटना' कहना अधिक सही हो ।

मेरे पापा के सेक्रेटरी का फोन आया—"कालेज में कौन-कौन से विषय ले रही हो ?"

मैंने कहा—"यह भी कोई पूछने की बात है । मुझे साहित्य और कविता पढ़ने का शौक है । मैं उसी का गम्भीर अध्ययन करना चाहती हूँ ।"

सेक्रेटरी ने कहा—"नहीं, तुम्हें ये विषय नहीं लेने हैं । तुम्हें इतिहास लेना है । साथ में, अर्थशास्त्र ।"

"नहीं, उन विषयों में मेरी रुचि नहीं है । इतिहास से तो मुझे वैसे ही वैराग्य है ।"

मैं इतना मुश्किल से ही कह पाई थी कि तभी सेक्रेटरी ने अपनी आवाज में जोर और प्रभुत्व भर कर कहा—"तुम्हारे पापा का ऐसा ही आदेश है ।"

यहाँ भी पापा का आदेश ?

पर पापा के आदेश के आगे तो किसी का भी ज़ोर नहीं चलता ।

पापा के नाम से मैं यह कड़वी गोली खा तो गई, पर मुझे अच्छा नहीं लगा । मैंने सोचा कि शाम को जाकर पापा से लड़ूँगी । यह भी क्या बात हुई कि जिस विषय में मेरी रुचि है उसको तो पढ़ने नहीं देंगे और जो विषय मुझे पसन्द नहीं है, उसी को पढ़ने के लिए ज़ोर देंगे ? यह तो सरासर ज़बर्दस्ती है । क्या किसी को ऐसी ज़बर्दस्ती करने का हक है ?

कालेज से घर पहुंचते ही मैंने पापा से कहा—“पापा, यह आपको क्या सूझी? मुझे साहित्य और कविता पढ़ने से आपने रोक क्यों दिया? इतिहास तो बड़ा नीरस विषय है।”

पापा ने कहा—“बिटिया, अच्छे और प्रतिभाशाली बच्चे सदा इतिहास और अर्थशास्त्र पढ़ा करते हैं। साहित्य का क्या है? वह तो हरेक ही पढ़ा लेता है। कालेज में बिना साहित्य पढ़े भी कोई चाहे जब स्वयं साहित्य पढ़ सकता है, उसे कोई कठिनाई नहीं होगी। साहित्य कोई कालेज में पढ़ाने की चीज़ थोड़ी है, वह तो स्वयं पढ़ने की चीज़ है। परन्तु इतिहास और अर्थशास्त्र कोई स्वयं नहीं पढ़ेगा, क्योंकि वे नीरस विषय जो हैं।”

फिर थोड़ी देर रुक कर बोले—“मैं जो तुम्हें इतिहास और अर्थशास्त्र पढ़ने को कह रहा हूँ, उसमें मेरा एक विशेष उद्देश्य है। तुम्हें इतिहास और अर्थशास्त्र पढ़कर मार्क्सवाद और पूँजीवाद का तुलनात्मक अध्ययन करना है और यह सिद्ध करना है कि आधुनिक अर्थशास्त्र की दृष्टि से इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों में मार्क्सवाद का सिद्धान्त किस प्रकार सही उत्तरता आया है या उत्तरता रह सकता है। जब संसार के इतिहास और आधुनिक अर्थशास्त्र को लेकर कोई व्यक्ति मार्क्सवाद का खण्डन करने लगता हैं तब मुझे बहुत बुरा लगता है। मैं चाहता हूँ कि कोई शास्त्रीय ढंग से उनका उत्तर देने वाला हो। मैं मार्क्सवाद की युगानुरूप व्याख्या करने के लिए ही तुम्हें इतिहास और अर्थशास्त्र पढ़ने को कह रहा हूँ। रूस का उद्धार इसी बात में निहित है। यह इतनी बड़ी जिम्मेवारी का काम है कि किसी ऐरे गैरे नत्यू-खैरे को मैं यह काम नहीं सौंप सकता। जरा सोचो तो सही कि मैं तुम पर कितना विश्वास करता हूँ? रूस को भविष्य में किस दिशा में चलना है उसका निर्धारण जिन लोगों को करना है, मैं उनकी कोटि में तुम्हें प्रतिष्ठापित करना चाहता हूँ।”

मैंने देखा कि उस समय उनकी आँखों में एक अद्भुत चमक खिल उठी थी। कुछ ठहर कर गम्भीर होते हुए बोले—“बिटिया, मैं भी अब धीरे-धीरे बुढ़ापे की ओर अग्रसर हो रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं सदा बैठा नहीं रहूँगा, पर देश तो रहेगा। आखिर इस देश के

भविष्य को तो निरावार नहीं छोड़ जाना है । जब तक हमारी भुजाओं में कर्तव्य का बल और कन्धों में भारवहन की क्षमता रही तब तक हम इस महान् देश के भाग्य-रथ को खींचते रहे । हमने इसका झण्डा कभी झुकने नहीं दिया । यह आगे आने वाली पीढ़ियाँ ही फैसला करेंगी कि हमने अपने पुरुषार्थ से इस देश को कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया है । परन्तु वही बात, कि हम सदा नहीं बैठे रहेंगे, इस देश का भाग्य भविष्य में तुम्हारे जैसी नई पीढ़ी के हाथ में आएगा । मैं चाहता हूँ कि तुम अभी से भविष्य की जिम्मेवारियों का बोझ ढोने लायक अपने आपको बना लो—यही तुम्हारी तैयारी का समय है ।”

नहीं कह सकती कि उस समय पापा का पूरा आशय मैं हृदयंगम कर सकी या नहीं । परन्तु इतना अवश्य जान पाई कि उनके सामने एक महान् स्वप्न है जिसकी पूर्ति वे मेरे द्वारा करवाना चाहते हैं । गनीमत है कि मैं उनकी पुत्री थी । यदि मैं उनका पुत्र होती तो वे इससे अधिक विश्वास मुझ पर और क्या करते ?

हे भगवान्, मुझे अपने पापा के स्वप्नों को पूरा करने की शक्ति देना ।

और उसके बाद मैं इतिहास और अर्थशास्त्र को भी मन लगाकर पढ़ने लगी ।

X

X

X

पर पढ़ने में अपना मन मैं सदा कहाँ लगा पाती ?

तन और मन में जैसे वसन्त की मादक बयार बह रही थी । आँखों के सामने जैसे सदा रंग विरंगे मोहक फूलों का बाग लगा रहता । कानों में जैसे सदा ही किसी की मधुर रागिनी बजती रहती ।

कभी-कभी मन में ऐसी तरंग आती कि जी चाहता, मैं नदी में तैरती चली जाऊँ—शीतल जल का स्पर्श शरीर को कैसा तो अच्छा लगता—जैसे कोई धीरे-धीरे सारे शरीर को अपने कोमल हाथों से सहला रहा हो । कभी मन होता कि नाचूँ तो नाचती ही चली जाऊँ—दिन में भी नाचूँ और रात में भी नाचूँ और तब तक नाचती रहूँ जब तक थक कर गिर न पड़ूँ ।

कभी मन होता कि दिन भर खेलती रहूँ। कभी मन होता कि खूब जी भर कर शोर मचाऊँ। कभी मन होता कि अपनी किसी सह-पाठिनी या सहपाठी को कस कर भींच डालूँ।

कैसी विचित्र-विचित्र तरेंगे उन दिनों मन में उठा करती थीं।

कभी लगता था कि मैं किसी बरसाती नाले में बही चली जा रही हूँ—पानी का वेग बड़ा भयंकर है, मैं हाथ पाँव मार रही हूँ, परन्तु कहीं किनारा नजर नहीं आता। कैसा उदाम वेग है इन लहरों का। कहीं किसी चट्टान से जाकर तो नहीं टकरा जाऊँगी।

कभी लगता था कि मैं सुनहली धूप में विवस्त्र बैठी नहा रही हूँ : धूप मेरे सारे शरीर को सोने से रंग रहो है और जब धूप की सुनहरी तूलिका मेरे अँगों को स्पर्श करती है, तो गुदगुदी-सी होने लगती है।

कभी लगता था कि मैं अनन्त हिम-विस्तार पर नंगे पाँव भागती चली जा रही हूँ और सनसनाहट मेरे दिमाग तक पहुँच रही है।

×

×

×

सन् १९४५ की वह घटना नहीं भूलती।

जर्मनी पराजित हो गया था और हिटलर का नाजीवाद नाम-शेष ! रूस की बहादुर जनता ने हिटलर को किस तरह नाकों चने चबवाए थे और युद्ध के दिनों में कैसी भयंकर परिस्थितियों में से उसे गुजरना पड़ा था, इसे सिवाय रूसी जनता के और कोई नहीं जानता। इसलिए जब युद्ध समाप्त हो गया और मित्रराष्ट्र विजयी हुए तब रूस की जनता के मन में भी कितना अपार हर्ष हुआ, यह कल्पनातीत है। रूसी जनता खुशी से झूम उठी।

विश्व युद्ध की विजय के उपलक्ष्य में मेरे पापा ने ६ नवम्बर १९४५ को क्रान्ति की वर्षगाँठ के प्रतीक के रूप में एक शानदार प्रीतिभोज का आयोजन किया।

मेरे पापा स्वयं कितने खुश थे ! उनका रूस उनके नेतृत्व में अन्धकार की कालरात्रि को पार करके विजय का सेहरा सिर पर बाँधे उज्ज्वल प्रभात के प्रकाश में अपने गन्तव्य पथ पर आगे बढ़

रहा था । उस खुशी में उन्होंने मुझे भी प्रीतिभोज में शामिल होने की अनुमति दे दी ।

मेरी खुशी का ठिकाना न रहा । ऐसी रियायत मुझे पहली ही बार मिली थी ।

मैंने उस दिन क्रेमलिन के नामी केश-सज्जाकार मिकुलेंको से अपने बालों को नए फैशन के अनुसार कटवाया । सुरुचिपूर्वक अपने आपको सजाया । कपड़े भी अपनी ओर से चुने हुए ही पहने ।

प्रीतिभोज के पश्चात् नृत्य का आयोजन था ।

विशाल नृत्यशाला में स्त्री और पुरुषों के युगल नाच रहे थे । मधुर बैण्ड की ध्वनि कानों में मद धोल रही थी । हल्की रोशनी ने वातावरण को और रूमानी बना दिया था ।

मैं मोलोतोव की पुत्री के साथ एक विशिष्ट स्थान पर बैठी नृत्य देख रही थी । तभी मार्शल कोन्स्टान्टिन रोकोव्स्की आए और मेरे पास बैठी मोलोतोव की पुत्री को नृत्य के लिए उठाकर ले गए । जाते जाते मोलोतोव-सुता ने कनखियों से मुस्करा कर मेरी ओर देखा और फिर तो वह फुदक कर मार्शल के साथ हो ली तथा हँसिनी की तरह फर्श पर थिरकने लगी ।

उठ कर गई मोलोतोव-सुता, पर रोमाँच मुझे हो आया ।

मैं अकेली बैठे-बैठे उकता चली थी । धीरे-धीरे रात गहराई । वातावरण में उन्माद छाता गया । स्त्री-पुरुषों के युगल नाचते-नाचते थकते ही नहीं थे । मैं ऊब गई थी ।

तभी वह हँसता-खिलता, लम्बा, सुदर्शन युवक मेरे पास आया और मुझसे नृत्य का आग्रह करने लगा ।

क्षण भर को तो मैं हक्की-बक्की रह गई । मेरी भयभीत आँखें पापा की ओर मुड़ीं । पापा पोलित ब्यूरो के सदस्य मेलेन्कोव से बातचीत में व्यस्त थे । पता नहीं, पापा ने मेरी ओर देखा या नहीं, किन्तु मुझे निर्णय करते देर नहीं लगी । उस युवक के हाथ का स्पर्श पाते ही जैसे मैं विजली के झटके से उठ खड़ी हुई और उसकी बाँह में बाँह डाले नृत्य-मग्न अन्य युगलों के बीच नृत्य रस में डूब गई ।

कभी अपने स्कूल में मैंने भी नृत्य का थोड़ा बहुत अभ्यास किया

था, परन्तु आज तक कभी किसी युवक के साथ नाचने का मुझे अवसर नहीं मिला था। न ही मुझे इस बात की अनुभूति थी कि किसी पुरुष के स्नेहिल स्पर्श में कैसा जादू होता है। आज तक मैं अपने पापा के सिवाय अन्य किसी पुरुष के निकट सम्पर्क में नहीं आई थी।

उद्धाम यौवन की उमियों से छलकता मेरा वक्ष !

कभी-कभी वह हँसमुख युवक मुझे अपने इतने पास सटा लेता कि उसकी साँस मेरी साँस से टकरा जाती और उसके वक्ष की घड़कन मेरे वक्ष की घड़कन से एकाकार हो जाती ।

मेरी कमर में पड़ा उसका वह कोमल हाथ और उसके हाथ की चैंचल अँगुलियाँ । शरीर के जिस अँग से उसकी अँगुलियों का स्पर्श होता वह तो रोमांचित हो ही उठता, निकटवर्ती अँग भी सँभावित स्पर्श की ऊष्मा से चैंचल हो उठते ।

क्या प्रत्येक पुरुष का स्पर्श ऐसा ही भादक होता है ? यह कैसे मान लूँ ? क्योंकि अपने पिता के स्पर्श में मुझे कभी ऐसी अनुभूति नहीं हुई ।

नृत्य की समाप्ति के पश्चात् घर लौटने पर उस युवक के अँग-स्पर्श की स्मृतिमात्र से भी मुझे रोमांच हो हो जाता । रात भर उसी की शब्द मेरी आँखों के आगे नाचती रही । क्या वही था मेरे कल्पनालोक का राजकुमार ! क्या वही काठ के धोड़े पर बैठकर मुझे तलाश करने अपने घर से निकला था ?

बाद में मुझे पता लगा कि उस युवक का नाम था एलेक्सी कैपलर । यद्यपि वह एक गणितज्ञ का पुत्र था और बचपन में उसे बुर्जुआ सँस्कार भी मिले थे, किन्तु होश सँभालते ही वह साम्यवादी युवा सँगठन में शामिल हो गया था और बाद में वहीं से तरक्की करते-करते 'प्रावदा' के सम्पादकीय विभाग तक पहुँचा था । प्रावदा ने स्तालिनग्राद के ऐतिहासिक युद्ध में उसे अपना संवाददाता भी बना कर भेजा था । जिन दिनों मुझसे उसकी मेंट हुई उन दिनों वह फ़िल्म निर्माण के कार्य में रुचि लेने लगा था । उसके सभी काम मेरी रुचि के अनुकूल थे ।

उससे वह क्षणिक परिचय मैत्री में परिवर्तित हो गया। मेरे लिए यह एक नया अनुभव था।

हम दोनों कभी-कभी एकान्त मिलने लगे।

परन्तु मेरे प्रत्येक कार्य पर कड़ी निगरानी रखने वाले, अपने पापा के सर्वव्यापी गुप्तचर विभाग से छिपकर मैं कहाँ जाती। उस विभाग ने मेरा पीछा किया और गुप्तचर सँघ के अध्यक्ष लेवरेन्टी बेरिया ने एक दिन केपलर से मित्रता की मेरी सारी दास्तान मेरे पापा को बता दी।

एलेक्सी गिरफ्तार कर लिया गया। उस पर यह आरोप लगाया गया कि उसने अपनी बुजु़आ वंश-परम्परा को छिपाया है। इसी अपराध में उसे २५ वर्ष का सपरिश्रम कारावास दिया गया।

जिस अपराध का आरोप उस पर लगाया गया था, सचमुच वह कोई अपराध था? या उसका असली अपराध यह था कि उसने मुझसे प्रेम प्रकट किया था।

क्या प्रेम करना अपराध है? क्या वह शरीर और मन की एक अनिवार्य भूख नहीं है जो यौवन आने पर स्वयंमेव महसूस होने लगती है? क्या पशु-जगत्, पक्षी-जगत् और बनस्पति-जगत् का नित्य नया और नए-नए रूपों में विस्तार उसी प्रेम का परिणाम नहीं है? क्या प्रेम सृष्टिक्रम का अनिवार्य अंग नहीं है?

बचपन में ही मेरे कोमल मन पर जो प्रथम वज्रपात हुआ था वह था अपनी माँ की आकस्मिक मृत्यु का। दूसरा यह वज्र प्रहार मेरे किशोर मन पर हुआ एलेक्सी की गिरफ्तारी का।

मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई।

X

X

X

एलेक्सी की गिरफ्तारी से मेरे मन का कौन सा कोना खाली हो गया, यह और कोई नहीं जान पाया। दैनिक जीवन-चर्चा यद्यपि वैसी की वैसी ही चलती रही, मैं रोज वैसे ही तैयार होकर कालेज जाती, वैसे ही कक्षा में पाठ सुनती, वैसे ही अंगरक्षक मेरे साथ रहता, वैसे ही मैं वापिस अपनी मोटर पर बैठ कर घर आ जाती, पर इस जीवन-

चर्या में से रस नामक तत्व कहीं उड़ गया ।

मन भी अस्तव्यस्त रहने लगा, दिमाग भी । अपनी गाड़ी मुझे अखरने लगी । उससे भी अधिक अखरने लगा अपना अंगरक्षक । यह अंगरक्षक मेरी सुरक्षा के लिए है या मुझ पर पहरा देने के लिए ? मैं केमलिन की राजकुमारी हूँ या कोई बन्दिनी ?

जिस तरह मेरे और सब सहपाठी या सहपाठिनियाँ पैदल या बस से कालेज पहुँचते हैं वैसे ही मैं भी बस से क्यों न जाऊँ ?

और एक दिन मैं सचमुच ही समय से पहले घर से निकल पड़ी और बाहर सड़क पर आकर मैंने कालेज वाली बस पकड़ ली ।

मैं जैसे किसी नए अभियान पर निकली थी । वैसा-ही उत्साह था मेरे अंग-अंग में ।

बस में खूब भीड़ थी । फिर भी मैं चढ़ गई । सब सीटें भरी हुई थीं । कहीं बैठने की जगह नहीं थी । मुझे इस भीड़ में भी आनन्द आ रहा था । मैंने सीट के लिए इवर-उघर ताका ।

तभी मैंने देखा कि मेरा समवयस्क एक युवक अपनी सीट छोड़ कर खड़ा हो गया और उसने इशारे से मुझे अपनी जगह बैठने को कहा ।

मैं बैठ गई । कह युवक किताबें हाथ में लिये मेरे पास ही खड़ा रहा ।

मेरे मन में आया कि उस युवक की इस सहदयता के लिए उसे धन्यवाद दूँ और थोड़ा सा सरककर अपने साथ हो उसे बैठने के लिए कहूँ । परन्तु बस के और मुसाफिरों को अपनी तथा उस युवक की ओर विचित्र दृष्टि से ताकता देखकर न मैं मुख से धन्यवाद का कोई शब्द कह सकी, न ही सरक कर उसे अपने पास बैठने को जगह दे सकी ।

उसके हाथ में किताबों का बोझ । एक हाथ से बस की छत का डण्डा पकड़े-पकड़े उसे अपना सन्तुलन साधने में मुश्किल हो रही थी । क्या मैं उसकी किताबें लेकर अपनी गोद मैं नहीं रख सकती ?

जिसने मेरे साथ इतना उपकार किया उसके प्रति कुछ तो सद-भाव मुझे भी प्रकट करना चाहिए ।

मैंने उससे कहा—“अपनी ये किताबें मुझे दे दीजिए। इनके साथ आपको खड़े होने में भी तकलीफ हो रही है।”

“नहीं, कोई बात नहीं।”

“क्यों, दे देंगे तो क्या मैं आपकी किताबें खा जाऊँगी?”

“नहीं, नहीं, आप भी क्या कहती हैं? फिर थोड़ा सहज होकर बोला—“यों यदि आप खा सकें तो इन किताबों का इससे बड़ा सौभाग्य और क्या होगा?”

मैंने चारों ओर यह देखने की कोशिश की किसी ने धीरे से कही उसकी वह बात सुन तो नहीं ली। मैंने बिना कुछ कहे हाथ बढ़ा कर उसकी किताबें ले लीं और अपनी गोद में रख लीं।

वह ललचाई आँखों से उस स्थान को देखता रहा जहाँ मैंने किताबें रखी थीं। जब उसकी दृष्टि का यह लालच मैंने जाना तो मेरे भी शरीर में जैसे सनसनी-सी होने लगी। मैं सीट पर बैठी-बैठी ही चंचल हो उठी। कभी मेरी अंगुलियाँ बालों पर पहुंच जातीं, कभी किसी अज्ञात खुजली को मिटाने के लिए पीठ पर रेंगने लगतीं, कभी न जाने क्यों बगल में खुजली की इच्छा होने लगतीं।

कहीं मेरी यह चंचलता उस युवक ने भाँप तो नहीं ली?

कालेज आ गया। सीट से उठने से पहले मैंने उसकी किताबें उसे पकड़ा दीं। उसने सरलता से कहा—“धन्यवाद।”

उसने धन्यवाद किस बात के लिए कहा—“किताबों के लिए या किताबें पकड़ते समय उसके हाथ का जो एक आकस्मिक-सा स्पर्श मेरे हाथ से हो गया उसके लिए?

क्या यह स्पर्श अनायास था?

नहीं कह सकती। परन्तु इस क्षणिक स्पर्श से भी मुझे बैसी ही अनुभूति हुई जैसी एलेक्सी केपलर के हाथ का स्पर्श पाकर हुई थी।

बस से उतरकर चलने लगी तो वह युवक भी मेरे पीछे-पीछे चला। मैं इस बात से बेखबर नहीं थी, परन्तु मैंने दिखाया ऐसा ही जैसे कि मुझे कुछ पता नहीं।

इसी बीच मैं उसकी शक्ल को मन में तोलने लगी। उसका दमकता रंग, उसकी नोकीली नाक, उसकी तिकोनी ठोड़ी, उसका चौड़ा

माथा, और सबसे बढ़कर उसकी काली आँखें। मन में उतरी इस आकृति का बाहर की आकृति से मिलान करने के लिए मैंने एक बार पीछे की ओर मुड़ कर देखा तो मुझे नक्शा ऐन सही नजर आया। मेरे मन के कैमरे ने जो फोटो उतारी थी वह गलत नहीं थी।

मेरी माँ की आँखें भी काली थीं। वह जार्जिया की रहने वाली थी। तो क्या यह युवक जार्जिया का रहने वाला होगा? क्या जार्जिया के सभी निवासियों की आँखें इसी प्रकार काली होती हैं?

काली आँखों में इतना आकर्षण क्यों होता है?

मैं इसी प्रकार अपनी भावनाओं में तैरती कालेज पहुंची तो पता लगा कि वहाँ मेरी ढूँढ मची हुई हैं। मेरा अंगरक्षक वहाँ पहले से मौजूद था और प्रिसिपल तथा अन्य अध्यापकों और अध्यापिकाओं से मेरे बारे में पूछताछ कर रहा था। इस बीच मेरे पापा के सेक्रेटरी का फोन भी कालेज में आ चुका था। मेरे इस प्रकार अचानक घर से गायब हो जाने का क्या परिणाम हो सकता है, यह मैं नहीं जानती थी। परन्तु मेरे पहुंचते ही कालेज के कर्मचारियों ने जैसी राहत की साँस ली उससे मुझे लगा कि जैसे वे किसी भारी विपत्ति की आशंका से मुक्त हुए हों। मेरे सकुशल कालेज पहुंचने के बजाय उन्हें शायद इस बात की अधिक खुशी थी कि वे अनागत विपत्ति से बच गए।

मेरे पहुंचते ही मेरे अंगरक्षक ने कालेज से पापा के सेक्रेटरी को फोन कर दिया।

अपनी गाड़ी से आने के बजाय बस से कालेज आकर मैंने कोई गलत काम किया है, यह बात क्षण भर को भी मेरे मन में नहीं आई।

मैं स्वस्थ मन से ही क्लास में गई। क्लास में पहुंच कर फिर मुझे बस बाले उस युवक की याद आई।

अचानक मुझे महसूस हुआ कि किसी की आँखें मुझे देख रही हैं। मैंने यों ही अस्तव्यस्तता के भाव से अपने चारों ओर देखा और मुझे यह देखकर हैरानी हुई कि वही बस वाला युवक क्लास में दूर की सीट पर बैठा मुझे धूर रहा है।

तो क्या वह मेरा सहपाठी है? आज तक कभी इसकी ओर मेरा ध्यान नहीं गया। और सब भी तो यहाँ मेरे इतने सहपाठी और

सहपाठिनियाँ हैं—कितनो को मैं खूब अच्छी तरह से जानती हूँ।
यह अब तक कहाँ छिपा रहा ?

और उसकी काली आँखें धीरे-धीरे मेरे अन्तर में उतरती गईं।
याद आता गया कि मेरी माँ जार्जिया की थी, कहाँ यह भी जार्जिया
का न हो ?

और यह भाव आते ही अन्दर ही अन्दर एक सहज आत्मीयता-
सी उस युवक के साथ मैं स्थापित कर बैठी।

शाम को जब क्रेमलिन पहुँची तब पापा के सेक्रेटरी ने मुझे
बुलाया। वह मुझसे जवाब तलब करने लगा कि आज मैं अपनी गाड़ी
में कालेज क्यों नहीं गई।

मैंने कहा—“इसमें क्या, बात है—अपनी गाड़ी से गए या बस
से गए ? कालेज ही तो जाना धा।”

सेक्रेटरी मेरी ओर ऐसे देखने लगा जैसे मैंने कोई अनहोनी बात
कह दी हो।

उसके कहने से पहले मैंने कहा—“सच तो यह है कि मुझे रोज
रोज गाड़ी में जाना अच्छा नहीं लगता। गाड़ी में जाने पर मन कैसा
घुटा-घुटा रहता है।”

सेक्रेटरी ने कहा—“नहीं, तुम क्रेमलिन की राजकुमारी हो,
स्टालिन की पुत्री। यदि और लोग तुम्हें बस में जाता देखेंगे तो वे
क्या सोचेंगे, क्या कहेंगे ?”

“और लोग क्या सोचेंगे और क्या कहेंगे—इसकी चिन्ता मुझे
नहीं है। मैं तो इतना जानती हूँ कि मुझे गाड़ी में जाने के बजाय बस
में जाना अच्छा लगता है।”

कहना चाहती थी कि “पहली बार ही बस में जाने पर आज ही
मुझे इतना आनंद आया”—पर कह न सकी।

तभी सेक्रेटरी ने कहा—“नहीं, तुम बस में नहीं जा सकती।”

मैंने पूछा—“क्यों नहीं जा सकती ?”

“क्योंकि तुम्हारे पापा का ऐसा हो आदेश है”—सेक्रेटरी ने ऐसे
अधिकारपूर्ण लहजे में कहा कि जैसे वही मेरे पापा का एकमात्र उत्तरा-
धिकारी हो।

मैंने भी तुनक कर कहा—“अच्छा, मैं पापा से बात कर लूँगी।”

पापा से बात करने की मेरी हिम्मत नहीं हुई। बात करती तब भी शायद मैं उनके आदेश को बदलवा न सकती।

मैं अन्दर ही अन्दर अपने आपको आहत और प्रताड़ित अनुभव करने लगी। मुझे लगा कि मैं राजकुमारी नहीं, बल्कि एक कैदी हूँ। जिस तरह चोर और डाकुओं पर चौबीस घण्टे पहरा रखा जाता है और वे जेल से छूटकर कहीं बाहर नहीं जा सकते, वैसे ही मैं भी अपने पापा की जेल में कैद हूँ।

उसके बाद मैं रोज गाड़ी पर ही कालेज जाने लगी। अंगरक्षक भी और सर्तक हो गया। पर मेरे मन की घुटन दिन प्रति दिन बढ़ती गई।

और जब मैं कालेज के द्वार पर पहुँचती तो वह घुटन अकस्मात् गायब हो जाती—केवल इसलिए नहीं कि गाड़ी की कैद से छुटकारा पाती, बल्कि खास तौर से इसलिए कि मुझे प्रतिदिन वही बस वाला युवक द्वार पर प्रतीक्षा करता हुआ मिलता। उसकी काली आँखें मुझे देखने को आतुर-सी रहतीं।

जब मैं क्लास रूम की ओर जाती तो वह उसी तरह मेरे पीछे-पीछे चलता। मुझे प्रतिक्षण आभास होता रहता कि उसकी आँखें मेरी पीठ पर लगी हैं। परन्तु अंगरक्षक के भय से मैं या वह कभी आपस में बात न कर सके।

क्लास रूम के अन्दर पहुँचने पर, जब अंगरक्षक बाहर रह जाता, तो अपनी-अपनी सीट पर बैठने से पहले हम दोनों की आँखें चार होतीं और मैं उन काली आँखों की गहराइयों में, जो दिन प्रति दिन मेरे अन्तर में गहरी और गहरी खुबती चली आ रही थीं, खो जाती।

हाज़िरी के समय बोले जाने वाले नामों से मैं यह तो जान गई कि उस युवक का नाम ग्रेगरी मोरोजोव है, परन्तु इससे अधिक मैं कुछ नहीं जान पाई। न मैंने किसी से कुछ पूछने की ही कोशिश की।

एक दिन ग्रेगरी मोरोजोव कालेज के द्वार पर नहीं मिला।

मेरी आँखें उसकी काली आँखों की तलाश में भटकती रहीं। मेरे अंगरक्षक ने भी भाँप लिया कि मैं किसी की तलाश में हूँ। परन्तु

उसने हम दोनों को कभी बात करते या कोई इशारा करते नहीं देखा था । इसलिए उसे किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं था ।

मैंने सोचा, शायद क्लास-रूम में मिल जाए ।

वहाँ भी वह नहीं मिला ।

मैं घबरा गई । कहीं ऐसा तो नहीं कि यहाँ भी पापा के गुप्तचर विभाग ने अपनी कारस्तानी दिखाई हो और ग्रेगरी का भी वही हश्च हुआ हो जो एलेक्सी का हुआ था । परन्तु उसका कुछ आधार तो होना चाहिए । आज तक उस बन्दे ने कभी मुझ से बात तक नहीं की । तो क्या मेरे पापा के राज्य में किसी की ओर देखना भी गुनाह है ?

मेरा मन सारे दिन बेचैन रहा । शाम को वापिस घर पहुँच गई, किन्तु काली आँखों की मनसा परिक्रमा समाप्त नहीं हुई । तरह-तरह की आशंकाओं से मन भर-भर जाता । क्या उसे भी साइबेरिया के यातना शिविर में सड़ने के लिए भेज दिया गया ? या उससे भी कोई बड़ा दुर्भाग्य उसे अपना शिकार बना बैठा ? हे भगवान्, मेरे पापा के राज्य में क्या यह सब सम्भव है ?

या आज के रूस में यही सब सम्भव है ।

अगले दिन कालेज पहुँची तो फिर काली आँखों की तलाश ! न वे द्वार पर मिलीं, न क्लास रूम में ।

मेरा मन अन्दर ही अन्दर मुझे कचोटने लगा ।

जब मन किसी तरह भी आश्वस्त नहीं हुआ तब मैं ग्रेगरी के पास वाली सीट पर बैठने वाले अपने एक सहपाठी के पास हिम्मत करके गई । मैंने उससे पूछा — “क्यों, आज ग्रेगरी नहीं आया, क्या बात है ?”

साथी ने कहा — “वह कल भी नहीं आया था ।”

यह बात जानते हुए भी मैंने अनजान बनते हुए कहा — “अच्छा, कल भी नहीं आया था ! क्या बात हो सकती है ?”

उसने कहा — “वह बीमार है । उसका प्रार्थना पत्र आया हुआ है । यह तो पता नहीं कितने दिन की, पर उसने बीमारी की छुट्टी ली है ।”

मैंने पूछा — “तुम जानते हो, सामान्य रूप से ही तबियत कुछ

खराब हो गई है, मामूली खाँसी-जुकाम है, या कुछ गम्भीर शिकायत हैं ?”

साथी ने कहा—“यह तो मैं नहीं जानता । लगता है कि कोई खास बात ही है, नहीं तो सामान्य तबियत खराब होने पर कौन छुट्टी लेता है, यदि वैसी बात होती तो आज तो उसे आ ही जाना चाहिए था ।”

“हाँ, आज तो आ ही जाना चाहिए था—” मैं कहने को हुई कि —“अपने लिए नहीं तो किसी और के लिए ही सही ।”

फिर मैं अचानक पूछ वैठी—“अच्छा, तुम्हें उसका घर मालूम है ?”

सहपाठी मेरी ओर साभिप्राय दृष्टि से देखता हुआ बोला—“घर मुझे मालूम तो नहीं है, पर आप चाहें तो इस पीरियड के बाद मैं कालेज के दफ्तर से उसके घर का पता पूछ कर आपको बता सकता हूँ ।”

५

पग धरती, सिर आसमान ।

बड़ा अच्छा लगता है यह जीवन मुझे । पर मेरे भाग्य में ऐसा जीवन कहाँ बदा है ?

ऐसे जीवन के मूर्तिमन्त्र प्रतीक हैं जिप्सी लोग । नित्य नया देश, नित्य नए लोग । जीवन में कौसी निर्द्वन्द्वता होती है, मन भी कैसा उन्मुक्त होता है, इन घुमन्तू लोगों का । पता नहीं, सामान्य लोगों के मन के किसी कोने में इस घुमन्तू जाति का कोई प्रतिनिधि अज्ञात रूप से निवास करता है या नहीं, पर राजसी वैभव की बन्दिनी बनी मुझ राजकुमारी के मन में तो कहीं न कहीं कोई जिप्सी घुसा बैठा था ।

इस धुमन्तू जाति के लोग यूरोप में कब आए थे ? सुना है कि एक हजार साल पहले आए थे । कभी भी आए हों, परन्तु अपने देश से इतनी दूर आकर भी जीवन-रस का छलकता प्याला सदा इनके होठों से लगा रहता है । शायद संसार में ऐसा कोई देश नहीं जिसे ये अपना कह सकें । फिर भी यूरोप के सभी देशों में और अमरीका तक में ये लोग विद्यमान हैं । मैंने कहीं पढ़ा है कि यूरोप में ही कुल मिलाकर इनकी संख्या ६० लाख के आसपास है । भले ही ये किसी देश को अपना न कह सकें, परन्तु पश्चिम के सभी देशों की कला, संगीत और संस्कृति को इस धुमकड़ जाति ने प्रभावित किया है । मानवीय सौन्दर्य के भी जैसे मानदण्ड इस जाति ने स्थापित किए हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं । यूरोप के कितने ही सौन्दर्य-प्रेमी युवक जिप्सी लड़कियों के पीछे अपने जीवन की बाजी लगा कर इनके प्रेम में दीवाने हुए देश-देश में भटकते रहे हैं ।

कौन-सा मूल निवास स्थान है इनका ? कहाँ से चलकर पश्चिम के सब देशों में ये फैल गए ? कुछ लोग कहते हैं कि 'ईजिप्शियन' का ही संक्षिप्त रूप जिप्सी है । कुछ कहते हैं कि इनकी भाषा के नामकरण से इनके मूल स्थान का पता लग सकता है । इनकी भाषा रोमनी कहलाती है, इसलिए ये लोग अवश्य रोम से चलकर धीरे-धीरे अन्य देशों में फैले होंगे । अन्य लोग कहते हैं कि ये अफगानिस्तान से और हिन्दूकुश की उपत्यका से आकर पश्चिमी देशों में छाये हैं । कुछ लोग कहते हैं कि ये राजस्थान के राजपूतों और गाड़िया लुहारों के बंशज हैं । उनसे इनके रहन-सहन के तरीके मिलते हैं, अन्य अनेक परम्पराएँ भी मिलती हैं । पीछे भाषा विज्ञान पढ़ने पर मुझे यह भी पता लगा कि इनकी भाषा रोमनी के अधिकाँश शब्द राजस्थानी और हिन्दी के जितने निकट हैं उतने संसार की और किसी भाषा के निकट नहीं हैं ।

जिस देश में भी ये गए, उस देश की शब्दावली तथा अन्य विशेषताओं को ही नहीं, बल्कि उस देश के रक्तमिश्रण को भी इन्होंने आत्मसात् किया है । रक्तशुद्धि के पक्षपाती भले ही इसे वर्ण-संकरता कहें, परन्तु संसार के तथाकथित सभ्य देशों के अभिजात वर्गों में रोमनी

रक्त कितना है, इसका फैसला करना कठिन है। लगता है कि 'रोमाण्टिक' शब्द का भी सम्बन्ध शायद रोमानियों से रहा होगा।

कहीं से भी आए हों और कभी आए हों ये जिप्सी और रोमानी। परन्तु इनकी एक विशेषता अभी तक अक्षण है—और वह है इनकी काली आँखें। देश-विशेष की जलवायु के अनुसार और इतने रक्त-मिश्रण के पश्चात् उनके रंग में और नाक-नकश में मूल रूप से अब तक काफी भिन्नता आई होगी, परन्तु इनकी आँखों की कालिमा अभी तक नहीं जा सकी। और यूरोप में जब कभी काली आँखें दिखें तो किसी के भी मन में यह शंका उठना स्वाभाविक है कि कहीं इसके किसी पूर्वज में जिप्सी रक्त न हो।

जो बात जिप्सियों के साथ है, बहुत कुछ वही बात यहूदियों के साथ भी है। वे भी सदियों तक अनिकेतन बने घूमते रहे हैं। उनके पास भी अपना कहने को कोई देश नहीं था। जिस देश में गए, वहीं के होकर बस गए। परन्तु किसी भी देश में उन्हें उस देश के अन्य नागरिकों के समान स्वाभिमान-पूर्ण जीवन का अवसर नहीं मिला। वे सदा शरणार्थी ही बने रहे। सम्भव है, अपनी इसी परिस्थिति के कारण उन्होंने पैसा कमाने की ओर अधिक ध्यान दिया हो। कुछ तो जीवन का आधार होना ही चाहिए।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय हिटलर के जर्मनी में यहूदियों को कितने नृशंस अत्याचारों का शिकार होना पड़ा, यह बात तो संसार जान गया, पर रूस में भी यहूदियों की हालत बहुत अच्छी नहीं थी। यहाँ भी उन्हें हिकारत की नजर से ही देखा जाता था।

स्वयं पोलित ब्यूरो की एक बैठक में बहुत बादविवाद के पश्चात् यहूदियों के सम्बन्ध में जो निर्णय किया गया था उसका परिचय एक बड़े अफसर ने इस रूप में दिया था—“एक तिहाई यहूदियों को रूस से निकाल दिया जाएगा, एक तिहाई को आत्मसात् कर लिया जाएगा और एक तिहाई को समाप्त कर दिया जाएगा—यही रूस सरकार की नीति है।”

मेरे पापा की सरकार ने खुले आम उक्त घोषणा की हो या न की हो, परन्तु वह अमल उसी नीति पर कर रही थी, इसका मुझे

आभास था । मैं मन से उस नीति को नापसन्द करती थी ।

एक विचित्र समानता देखी है मैंने जिप्सियों और यहूदियों में—
अक्सर दोनों की आँखें काली होती हैं । क्या यह विशेषता उन दोनों
के एशियाई उद्गम की सूचक है ?

×

×

उस दिन ग्रेगरी के घर का पता मिल जाने पर मैं एक पीरियड
पहले ही अपनी क्लास से उठ आई और अपने ड्राइवर से मैंने उस
पते पर चलने को कहा । छाया की तरह साथ रहने वाला अंगरक्षक
उस दिन भी मेरे साथ था ।

ग्रेगरी के घर वाली गली आ जाने पर मैंने अपनी गाड़ी बाहर
छोड़ दी और उतर कर मैं पैदल ग्रेगरी के घर की ओर चली । अंग-
रक्षक भी उतर कर मेरे साथ हो लिया ।

छोटा-सा घर था, मामूली फर्नीचर और मध्यवित्त व्यक्ति का-
सा रहन-सहन । मैंने जब द्वार खटखटाया तब अन्दर से एक बुढ़िया
निकल कर आई और मेरी ओर प्रश्न सूचक दृष्टि से देखने लगी ।
मैंने कहा—“मैं ग्रेगरी की सहपाठिनी हूँ । मुझे पता लगा कि वह
बीमार है, इसलिए उसका हाल-चाल पूछने आई हूँ ।”

“हाँ हाँ, उसकी तबियत बहुत खराब है । दो दिन से ल्सने कुछ
खाया भी नहीं है । आओ बेटी ।”

अंगरक्षक को मैंने बाहर ही थोड़ी देर इन्तजार करने को कहा ।

ग्रेगरी मुझे देखते ही स्तब्ध रह गया । उसने हैरानी से कहा—
“तुम…?”

“हाँ, मैं—।”

वह मुझे बिठाने की व्यवस्था करने के लिए अपनी चारपाई से
उठने लगा तो मैंने उसे रोक दिया । और उसकी चारपाई के ही एक
कोने पर सिकुड़ कर बैठ गई ।

अपने ही बिस्तर पर इस प्रकार मुझे इतना पास बैठे देखकर
वह सहमा भी, भिभका भी और मेरे बैठने की उचित व्यवस्था न
कर सकने के कारण लज्जित भी हुआ ।

उसने संकोच के साथ कहा—“तुमने यहाँ आने का कष्ट क्यों किया ?”

“कष्ट की इसमें क्या बात हैं ? तुम वीमार थे, इसलिए हाल-चाल पूछने चली आई ।”

“तुमसे किसने कहा कि मैं वीमार हूँ ?”

“वाह, यह भी कोई कहने की बात है । दो दिन से तुम दिखाई नहीं दिए तो क्या मैं स्वयं कल्पना नहीं कर सकती थी ?”

“फिर मेरा घर तुम्हें किसने बताया ?”

“यह सब सवाल-जवाब छोड़ो । पहले यह बताओ कि तुम्हें हुआ क्या है, और अब तुम्हारी तबियत कैसी है ?”

“हुआ तो मुझे कुछ नहीं । और तबियत ? तबियत भी मेरी ठीक ही है ।”

“फिर विस्तर पर क्यों पड़े हो ? कालेज क्यों नहीं आए ? और बुढ़िया माँ कह रही थीं कि तुमने दो दिन से खाया भी कुछ नहीं है ।”

मैंने देखा कि दो दिन की वीमारी से ही उसका मुँह पतला-सा निकल आया है । पर उसकी काली आँखों की चमक में कोई फर्क नहीं आया, बल्कि वह और उज्ज्वल हो उठी हैं । कमजोरी के कारण चेहरे पर जो हल्का-सा पीलापन आ गया था उसके कारण मुझे उसका मुख और भी सुन्दर प्रतीत हुआ ।

उसके जवाब देने से पहले ही मैंने उसकी कलाई पकड़ते हुए कहा—“देखूँ, बुखार तो नहीं ?”

ग्रेगरी ने कहा—“तुम कोई डाक्टर हो ?”

मेरे मुँह से अचानक निकल गया—“हाँ तुम्हारी डाक्टर तो हूँ ही ।”

“सच ?”

“सच नहीं, तो क्या भूठ ?”

“अगर डाक्टर हो तो जब तक मरीज अच्छा न हो जाए तब तक रोज आना होगा !”

“मरीज का मर्ज बढ़ गया तो ?”

“जिम्मेवारी डाक्टर की ।”

“ना बाबा ना, मैं ऐसी जिम्मेवारी लेने को तैयार नहीं ।”

ग्रेगरी का चेहरा उदास हो गया । उसने कहा—“अगर डाक्टर यह जिम्मेवारी लेने को तैयार नहीं तो मरीज चाहे मरे या जिये, उसे क्या ?”

“ना, ऐसा नहीं कहते ।”

फिर मैंने उसकी आँखों में आँखें डालते हुए कहा—“अच्छा आऊँगी ।”

वह खिल उठा ।

×

×

×

अगले दिन गई तो ग्रेगरी मेरी इन्तजार ही कर रहा था । आज उसने मेरे बैठने के लिए कुर्सी का इन्तजाम कर रखा था । विस्तर भी साफ सुथरा था और लगता था कि कमरे की भी सतर्कतापूर्वक सफाई की गई है ।

मैं अपने साथ थोड़े-से फल ले गई थी ।

ग्रेगरी ने उन्हें देखकर कहा—“यह क्या ले आई ?”

“बोलो मत । बीमारी के समय मरीज को डाक्टर की इच्छा से चलना होता है । मैं तुम्हारी डाक्टर हूँ, यह तुम मान ही चुके हो !”

“अच्छा, डाक्टर साहब, जैसी आपकी आज्ञा ?”

फिर बोला—“डाक्टर साहब, लेकिन आपकी फीस चुकाने लायक मेरे पास पैसे नहीं हैं ?”

“ऐसा नहीं हो सकता । इलाज करवाओगे तो फीस भी चुकानी पड़ेगी । नहीं तो डाक्टर साहब आगे से क्यों आएँगे ?”

“नहीं डाक्टर साहब, ऐसा मत करिए । फीस जो भी आपकी होगी, जैसे भी होगी, मैं चुकाऊँगा । आप आना मत छोड़िए ।”

“अच्छा, अपना हाथ दिखाओ ।……जीभ दिखाओ……गला दिखाओ……नाखून दिखाओ ।”

“डाक्टर साहब, जो देखने की चीज़ है वह तो आप देखते नहीं, बस यह दिखाओ, वह दिखाओ करते हैं ।”

“देखने की चीज़ क्या है ?”

“यह देखिए, इधर बाईं और मेरी छाती में बहुत बड़कन होती है।”

“मैंने उसकी छाती पर हाथ रखा तो वह सचमुच ही तेजी से घड़क रही थी।

“क्यों डाक्टर साहब, है न कुछ गड़वड़ ?”

मैंने कहा—“हाँ असली चोर यहाँ लगता है। इसी का इलाज करना होगा।”

और अगले दिन मैं सचमुच ही छाती पर मालिश करने का तेल लेकर आई।

व्या सचमुच ही उसे उसकी ज़रूरत थी, इसलिए, या उसकी छाती की मालिश करने का प्रलोभन मेरे मन में छिपा था, इसलिए ?

मैंने धीरे-धीरे उसकी छाती की मालिश करनी प्रारम्भ की।

ग्रेगरी ने कहा—“यहाँ दर्द क्यों होता है, मालूम है ?”

“डाक्टर को मरीज़ की नस-नस का हाल मालूम है।”

जब मैंने यह कहा तभी ग्रेगरी ने अपनी छाती पर मेरा हाथ दबाया और धीरे से बोला—“क्योंकि यहाँ दिल है, और उस दर्द की दवा यही हाथ है, और कुछ नहीं।”

मैंने कहा—“शैतानी की बात करोगे तो मैं कल से नहीं आऊँगी।”

ग्रेगरी रुआँसा हो गया। उसने मेरा हाथ अपने माथे पर रखते हुए कहा—“नहीं नहीं, ऐसा मत करना, तुम्हें मेरी कसम।”

जब माथे पर वह मेरा हाथ कुछ देर तक दबाये रहा तब मैंने कहा—“अब डाक्टर साहब को जाने की इजाजत भी मिलेगी या नहीं ?”

उसने मेरे हाथ पर से अपना हाथ हटाया तो धीरे-धीरे अपना हाथ वापिस लाते हुए मैंने उसके गाल पर हलकी-सी चिकोटी काटी।

मरीज़ और डाक्टर की मुस्कराहटें आपस में टकरा गईं।

X

X

X

एक दिन पापा ने मुझे बुलाया।

पूछा—“ग्रेगरी मोरोज़ोव कौन है ?”

मैं जानती थी कि एक दिन यह स्थिति आएगी, पापा के दरबार में मेरी पेशी होगी। इसलिए मन ही मन इस स्थिति का मुकाबला करने की तैयारी कर चुकी थी।

पर यह स्थिति इतनी जल्दी आ जाएगी, यह कल्पना मुझे नहीं थी।
मैंने कहा—“मेरा एक सहपाठी है।”

“तुम उसके घर जाती रही हो ?”
“हाँ।”

“क्यों ?”

“वह बीमार था, इसलिए। उसका हालचाल पूछने।”

“उसके सब सहपाठियों में उसका हालचाल पूछने के लिए तुम ही रह गई या और भी कोई है ?”

“मुझे औरें से क्या मतलब ? मैं तो अपने मन की बात जानती हूँ।”

“तुम्हें कुछ अपनी हैसियत का भी स्थाल है ?”

मैंने कहा—“पापा, एक ओर आप साम्यवाद और कम्युनिज्म की बात करते हैं और दूसरी ओर हैसियत और गैर-हैसियत की बात कहते हैं। साम्यवादी होने पर भी आपके मन से सामन्तवादी विचारधारा गई नहीं। क्या सब मनुष्य समान नहीं हैं ?”

पापा मेरे मुँह की ओर देखने लगे। उन्हें शायद इस प्रकार के उत्तर की आशा नहीं थी।

कुछ तैश में आकर बोले—“कुछ मालूम भी है, वह कौन है ?”

“मुझे यह जानने की ज़रूरत नहीं।”

“वह यहूदी है।”

तो इसका अर्थ यह है कि पापा का गुप्तचर विभाग पिछले दिनों निष्क्रिय नहीं बैठा है ? उसने ग्रेगरी के और उसके परिवार के विषय में तथा मेरे और उसके सम्बन्धों के विषय में सब कुछ पता लगा लिया है।

मैंने शान्तभाव से कहा—“क्या यहूदी मनुष्य नहीं होते ?”

पापा मेरे इस उत्तर से अप्रतिभ हो गए।

बुजुर्ग लोगों में मैंने सदा एक बात देखी है। जब उनके पास

किसी वात का तर्कसंगत उत्तर नहीं होता, तब उन्हें गुस्सा आता है।

परन्तु पापा को गुस्सा नहीं आया। या हो सकता है कि अन्दर ही अन्दर आया भी हो, पर वे उसे चुपचाप पी गए। मेरे सामने सहज भाव से बोले—“नहीं विटिया, तू जानती नहीं। जिप्सी और यहूदी हमारी शासन-व्यवस्था में कभी फिट नहीं हो सकते।”

मैंने कहा—“पर यह तो शासन व्यवस्था का कसूर है, उनका नहीं।”

अब सचमुच पापा के गुस्से की वारी थी। अपने ही निजाम की शिकायत अपनी ही बेटी के मुख से !

कभी मेरी माँ ने भी उनके निजाम की कुछ नीतियों का विरोध उनके मुँह पर ही किया था। उसका परिणाम क्या हुआ था, यह वात मुझ से छिपी नहीं थी। माँ के स्वर्गवास से अगली रात का सपना भी मुझे भूला नहीं था।

फिर भी न जाने क्यों, मेरे मन में भय का लेश नहीं था।

क्या यह प्रेम की ही शक्ति है जो मनुष्य को इतना निडर और बेवाक बना देती है ?

पापा अन्दर ही अन्दर गुस्से से काँपते रहे। कुछ देर बाद बोले—“कुछ दिनों से देख रहा हूँ कि तेरा रवैया ठीक नहीं है। और अब तो तू गुस्ताखी भी करना सीख गई है।”

मैं चुप रही।

मेरे चेहरे पर न पश्चात्ताप का कोई भाव प्रकट हुआ, न वाणी से क्षमा-न्याचना का कोई शब्द निकला। वल्कि चेहरे की नसें उसी प्रकार दृढ़ता से कसी रहीं।

पापा को मेरी यह चुप्पी और अखरी।

मैं उठकर जाने लगी।

पापा ने तैश में आकर अपना अन्तिम निर्णय-सा सुनाते हुए कहा—“सुनो, आगे से तुम ग्रेगरी से नहीं मिलोगी।”

“मैं इसकी गारण्टी नहीं दे सकती।”

पापा ने कहा—“क्या कहती है ?”

तब मैंने मुड़ कर बिना किसी भय या आतंक के, मन की पूरी

दृढ़ता के साथ कहा—“पिता जो, आप न मिलने की बात कहते हैं, मैंने तो अपने मन में ग्रेगरी से शादी करने का निश्चय कर लिया है।

पापा ने मेरे ‘पिता जी’ सम्बोधन पर ध्यान दिया या नहीं, नहीं कह सकती।

उन्होंने कहा—“यह नहीं हो सकता।”

“तो मैं आजन्म कुँवारी बैठी रहूँगी।”

पापा स्तब्ध रह गए।

फिर मैंने थोड़ी देर बाद इतना और जोड़ा—“और पिता जी, यदि आपने एलेक्सी की तरह ग्रेगरी को भी साइवेरिया के यातना शिविर में भेज दिया, तो मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं भी उसके साथ ही शिविर में चली जाऊँगी।”

और यह कह कर मैं चली आई।

×

×

×

रात को खाने की मेज पर न पाकर पापा ने मुझे बुलवाया।

पापा ने पूछा—“खाना खाने क्यों नहीं आई?”

“मुझे भूख नहीं है।”

“तुझे भूख है या नहीं, यह मैं जानता हूँ।……बैठो, खाना खाओ।”

“नहीं, मैं नहीं खाऊँगी।”

“क्यों नहीं खाएगी?”

“एक बार कह दिया कि नहीं खाऊँगी……नहीं खाऊँगी……नहीं खाऊँगी। आप क्यों मेरे पीछे पड़े हैं?”

“आखिर पता भी तो लगे कि क्यों नहीं खाएगी?”

“जब सब मुझे मारने पर ही तुले हैं तो खाना खा कर ही क्या करूँगी?”

यह कहते ही मेरी आँखें गीली हो गईं।

मैं अभी तक खड़ी हुई थी। पापा खाने की मेज पर बैठे हुए थे। अब वे स्वयं उठ कर मेरे पास आए। मुझे अपनी छाती से लगाते हुए बोले—“क्यों बिटिया, नाराज हो गई?”

उनकी छाती से सिर चिपकते ही उसकी गर्मी से हृदय में चिरकाल से जमी वर्फ पिघल गई और आँखों से अजल जलधारा बह चली ।

पापा कुछ देर तक मुझे इसी तरह छाती से चिपकाए खड़े रहे । शायद उनका भी दिल भर आया था । जब मेरा आंसुओं का वेग कुछ कम हो गया तो वे मुझे अपने से चिपकाए-चिपकाए ही कुर्सी तक आए । स्वयं मेरे कन्धे पकड़कर बड़े जतन से मुझे कुर्सी पर बिठा दिया और अपने आप सामने की कुर्सी पर बैठ गए ।

फिर प्रेम से मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए बोले—“बिट्या, नाराज हो गई ?”

फिर मेरे उत्तर की बिना प्रतीक्षा किए ही कहने लगे—“बिट्या, तुझे याद है कि बचपन में मैंने तुझे एक बार गुस्से में आकर पीटा था । परन्तु उसके बाद मुझे बहुत पश्चात्ताप हुआ था । तुझे याद है, मैंने उसके लिए तुझसे माफी भी माँगी थी ?”

“आप पीटिये, फिर मुझे पीटिये । मुझे खूब पीटिये । मैं जानती हूँ—फिर आपको पश्चात्ताप करना पड़ेगा ।”

पापा सचमुच ही जैसे पश्चात्ताप की मुद्रा में भुक गए । वे जमीन पर आँखें गड़ाए रहे । उन्होंने कुछ जवाब नहीं दिया ।

थोड़ी देर बाद मैंने ही उनका हाथ झकझोरते हुए कहा—“पापा, आप इतने हृदयहीन क्यों हैं ?”

पापा ने फर्श पर से अपनी नजर ऊपर को उठाई । मेरी आँखों में आँखें डाल कर बोले—“तुम सचमुच मुझे हृदयहीन समझती हो ?”

“नहीं तो मुझे आप ग्रेगरी से शादी क्यों नहीं करने देते ?—काश, कि आज मेरी माँ जिन्दा होती ?”

पापा धीरे से बोले—“बिट्या, समझता हूँ, सब समझता हूँ । मैं हृदयहीन नहीं हूँ ।”

“नहीं पापा, तुम कुछ नहीं समझते”—और यह कह कर मैं खिल-खिलाकर हँस पड़ी और अपने पापा से चिपट गई ।

पापा ने मुझे प्यार किया और अपने हाथ से खाना खिलाने लगे । परन्तु उनके हाथ से कौर मुँह में लेने से पहले मैं फिर बच्चों की तरह जिद पकड़ बैठी ।

मैंने कहा—“पहले आप मुझे वचन दीजिए कि मुझे ग्रेगरी से शादी करने देंगे ?”

“अच्छा बाबा, अच्छा । तू पहले खाना खा ले ।”

पता नहीं, बचपन में भी कभी पापा ने मुझे इस तरह अपने हाथ से खाना खिलाया था या नहीं । माँ तो अक्सर खिलाती थी । पापा के हाथ से खाना खाते-खाते अचानक उनके अन्दर मुझे अपनी माँ की झलक दिखाई दी ।

मैंने कहा—“पापा, कभी तुम्हें माँ की याद आती है या नहीं ?

पापा चुपचाप मेरी ओर देखते रहे और मुझे खाना खिलाते रहे ।

मैंने फिर पूछा—“पापा बताइए न, आप चुप क्यों हैं ? क्या आपको माँ कभी याद नहीं आती ?”

पापा ने धीरे से कहा—“मैं तो हृदय-हीन हूँ न !”

६

रूस के लोकप्रिय कवि निकोलाई गूमिलेव की एक कविता याद आ रही है—

आदि उपवन अदन के द्वार पर

गुलाब के दो फूल खिले हैं

मुस्कानों से सुरभि लुटाते ।

रंग एक की पंखुरियों का हल्का-हल्का—

जैसे कोई भोली बाला

पड़ी प्रेम में लाज-गड़ी हो ।

रंग एक का गहरा-गहरा—

जैसे कोई नवयौवन में

आग प्रेम की दबा न पाए,

लपट उठाए, दहता जाए ।

दोनों ही आदि उपवन के
ज्ञानद्वार पर खिले हुए हैं !

और सचमुच ही अदन के बाग के द्वार पर खिले दो गुलाब के फूलों की तरह मैं और ग्रेगरी दोनों खिलते रहे, खिलते रहे।

ग्रेगरी से परिणय-सूत्र में बंधने के पश्चात् मैं अपने पापा से अलग रहने लगी।

बचपन से मेरी साध थी कि मैं भी अपना एक घोंसला बना-ऊंगी। मैंने अपना छोटा-सा घोंसला बना लिया था।

पापा ने विवाह की अनुमति दे दी थी। जल पर काई की तरह अपने मन पर जमे चिरकालीन संस्कारों से जूँझने के लिए पापा को कितना आन्तरिक संघर्ष करना पड़ा होगा, इसे सिवाय उनके और कौन जाने।

पापा पहले जहाँ कहीं जाते, वहाँ मुझे अपने साथ ले जाते। काला सागर के तट पर सोची के विश्रान्तिदायक अवकाश के दिनों में भी वे मुझे अपने साथ ले जाना नहीं भूलते थे। परन्तु ग्रेगरी से विवाह के पश्चात् मैं पापा के साथ कहीं नहीं गई।

शायद पापा को अकेलापन अखरा हो। पर उन्होंने उसके बाद मुझ से कभी अपने साथ रहने का या कहीं साथ जाने का आग्रह भी नहीं किया। शायद मैं उनके स्वप्नों के अनुकूल सिद्ध नहीं हो सकी।

पर मैं अपने स्वप्नों के अनुसार ठीक चल रही थी।

पापा से अलग होने के पश्चात्, उन युद्धोत्तरकालीन दिनों में रूस की सामान्य जनता को किस प्रकार के अभाव-अभियोगों का सामना करना पड़ रहा था, इसका मैं स्पष्ट अनुभव कर सकी। पापा के साथ रहते क्रेमलिन के राजप्रासाद में उस प्रकार के अभावों का कभी आभास भी न हो पाता।

जिन लोगों के बारे में ज़रा भी बुर्जुआ होने का शक होता उनके साथ किस प्रकार चोर और डाकुओं जैसा व्यवहार किया जाता था, यह मैंने प्रत्यक्ष देखा। उन दिनों किसी को 'बुर्जुआ' कहना सबसे

बड़ी गाली थी और अक्सर लोग अपने विरोधियों से बदला लेने के लिए उन्हें बुजुआ सिद्ध करने का प्रयत्न किया करते थे।

मजदूरों को किस प्रकार बिना विश्राम किए पिस्तौल की नोक पर दिन रात कारखानों में काम करना पड़ता था, यह भी मैंने देखा। औद्योगिक उन्नति के पीछे दीवाने मजदूरों के कल्पित स्वर्ग में भूमि-हीन किसानों की और भी दयनीय दशा थी। गाँवों में उनके पास न खाने को कुछ था, न करने को कुछ था। भूख से तंग आकर वे शहरों की ओर भागते और किसी भी कारखाने में मजदूरी करके जी-तोड़ मेहनत करने के बाद वे अपने पेट का गढ़ा भरने का साधन जुटा पाते। उबली हुइ ज्वार और गेहूं का माँड—यही मजदूरों का भोजन था।

राशनकार्ड पर राशन पाने वाले भी सौभाग्यशाली माने जाते थे। राशनकार्ड भी एक तरह का विशेषाधिकार था। और मिलने वाला राशन भी मात्रा में इतना थोड़ा होता था कि शायद ही किसी का गुजारा चलता हो।

सबसे बड़ी समस्या थी इंधन की। रूस की भीषण सर्दी में बिना इंधन के गुजारा चलना मुश्किल था। घरों में सबसे अधिक चोरी भी इंधन की ही होती थी। थोड़े से कोयलों के बदले मैंने लोगों को अपना सुन्दर फर्नीचर और पियानो तक बेचते देखा है।

उन दिनों किसी घड़ीसाज के पास घड़ी ठीक करवाने जाओ तो वह उसके लिए पैसे नहीं, एक पौँड रोटी माँगता था। बिना आटा दिए उन दिनों रेलगाड़ी में सीट मिलना भी कठिन था। डाक्टर मरीज को दवाई देने के बदले फीस के रूप में एक बोतल जर्मन शराब माँगते थे।

राशन इतना कम पड़ता था कि मैं और ग्रेगरी बारी-बारी से भोजन करते थे। दोनों समय भरपेट भोजन करना उन दिनों बहुत बड़ी विलासिता मानी जाती थी।

इंधन की कमी पूरी करने के लिए ग्रेगरी हर इतवार के दिन जंगल में जाकर लकड़ी काटता और उसे ढोकर घर लाता, तब काम चलता।

जिन लोगों के कारण जनता को इस प्रकार का अभावग्रस्त जीवन विताना पड़ रहा था, उनके प्रति जनता के मन में छिपा आक्रोश था, परन्तु

वह इतनी आतंकित थी कि उस आक्रोश को प्रकट नहीं कर पाती थी। मैं जानती थी कि इस समस्त आक्रोश के केन्द्र मेरे पापा ये, परन्तु मेरे मन में उनके प्रति कभी आक्रोश की भावना नहीं आई। क्या मेरे पापा थे वे, इसलिए? नहीं। युद्ध के महाविनाश के पश्चात् इस प्रकार की अवस्था अवश्यम्भावी है। मेरे पिता के अलावा अन्य भी कोई व्यक्ति होता तो इस परिस्थिति को उलट नहीं सकता था। और इस युद्धजन्य परिस्थिति के लिए अकेले मेरे पिता ही जिम्मेवार थोड़े थे? मेरा आक्रोश अपने पिता के बजाय युद्ध के प्रति उमड़ता था और युद्धोन्मादी जीवनदर्शन के प्रति मेरे मन में गहरी विरचित उत्पन्न होती जाती थी।

फिर भी मैं प्रसन्न थी। क्योंकि मुझे इस प्रकार के जीवन में जनता के साथ एकतानता अनुभव होती थी। क्रेमलिन की राज-कुमारी के बन्दी जीवन की अपेक्षा मुझे यह अभावों से भरा जीवन अधिक सुखकर प्रतीत होता था, क्योंकि इसमें मुझे आजादी का अहसास होता था। किसी ने मुझ पर यह जीवन थोपा नहीं था, मैंने स्वयं इसे चुना था।

और तब मुझे धर्मशास्त्र के इस वाक्य से बड़ी राहत मिलती थी—“जो पददलित और अभावग्रस्त हैं उन्हें प्रभु का आशीर्वाद प्राप्त है।”

सदियों से मनुष्य पददलित और अभावग्रस्त रहते चले आए हैं। उन्होंने विद्रोह भी किए हैं, भीषण रक्तपात भी। राज्यकान्तियां भी धरती पर नया स्वर्ग लाने के नाम से ही प्रेरणा पाती रही हैं। परन्तु कहाँ आया धरती पर स्वर्ग?

एक बार जब आदम अदन के बाग से निकाला गया तब उसके बाद वह हमेशा उसी बाग में जाने के लिए तरसता रहा। परन्तु वह बाग आज भी उससे उतना ही दूर है।

आदमी ने जन्म-जन्मान्तर से साधना की है उस स्वर्ग तक पहुँचने की। जब स्वर्ग नहीं मिला तो उसने स्वर्ग का आविष्ट्य हस्तगत करने के लिए ईश्वर बनना चाहा, उसने बारम्बार अपने आपको ईश्वर का समकक्ष घोषित किया। परन्तु वह प्रयत्न करने पर भी

जब ईश्वर नहीं बन सका और स्वर्ग को नहीं पा सका, तब स्वयं प्रभु को उस पर दया आई और मानव को स्वर्ग के द्वार का रास्ता बताने के लिए उसने स्वयं मनुष्य रूप में अवतार लेना स्वीकार किया ।

प्रत्येक नारी अपनी गोद में बालक के रूप में जिसे पाती है वह उसकी कोख से अवतरित साक्षात् प्रभु ही तो होता है । प्रभु की इस कृपा के लिए नारी ही है जो अपने आपको चिर-ऋणी अनुभव करती है । प्रारम्भ में प्रत्येक नारी महापुरुष की ही माता होती है, भविष्य में भले ही उसकी यह आशा निराशा सिद्ध हो जाए ।

वर्ष की समाप्ति तक जब मेरी गोद में भी प्रभु का अवतार खेलने लगा, तो मैं उसे देख-देखकर निहाल हो गई ।

उसकी भी ग्रेगरी जैसी काली आँखें थीं । अपने पिता के समान ही वह सुन्दर था ।

जब मेरे पापा को यह समाचार मिला तो उन्होंने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की । मेरे लिए जो सृष्टि का परम सौभाग्य था, वह उनके लिए न कुछ के बराबर था ।

जो व्यक्ति आजीवन यहूदियों से घृणा करता रहा, जिसने अपने प्रतिद्वन्द्वी ट्राट्स्की के हजारों अनुयायियों को केवल इसलिए नामशेष कर दिया क्योंकि उनका नेता ट्राट्स्की जन्मना एक यहूदी जमींदार था, वह यह कैसे बर्दाश्त करता कि उसका दोहता भी एक यहूदी हो ? स्वयं उसके अपने अहं के लिए यह कितनी बड़ी चुनौती थी ?

उसके बाद एक दिन ।

नहीं जानती कि क्या हुआ—किन्तु ग्रेगरी वापिस घर लौटकर नहीं आया ।

मैं बच्चे को गोद में लेकर उसकी प्रतीक्षा में बैठी रही । घड़ियाँ गिनती रहीं । वह नहीं आया ।

एक दिन ।

दो दिन ।

तीन दिन ।

फिर सहसा मुझे एलेक्सी केपलर का ध्यान आया । क्या उसकी तरह ग्रेगरी भी पापा के गुप्तचर विभाग का शिकार बनकर साइ-

बेरिया के यातना शिविर के हवाले…

कैसी कूर है यह राजनीति ?

मैं कई दिन भूखी प्यासी पड़ी रही । जब नहीं रहा गया तो अपने अहम् को ठोकर मारकर पापा के पास पहुँची ।

“पापा, मैं लुट गई । पापा, यह तुमने क्या किया ? यह क्या किया ? मुझे गला धोंटकर मार दो । मुझे भी और मेरे बच्चे को भी । तुम यही चाहते हो न !”

पापा किंकर्तव्य विमूढ़ से खड़े रहे । उन्हें ग्रेगरी के गायब होने का ससाचार मिल चुका था । उन्होंने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया ।

मैंने फिर विह्वल होकर कहा—“पापा, सच बताओ, मेरे ग्रेगरी को क्या हुआ ? तुम्हें अवश्य सब कुछ पता है । तुम्हारी मर्जी के बिना रूस में पता भी नहीं हिल सकता ।

पापा ने गम्भीर होकर कहा—“मुझे कुछ पता नहीं । मैं पता लगाऊँगा ।”

मैं फुका भार कर रो पड़ी ।

पापा ने मुझे गले से लगाया । मुझे ढारस बँधाया । बहुत-बहुत आश्वासन दिए ।

केमलिन से पापा ने मुझे फिर जाने नहीं दिया ।

एक दिन कहने लगे—“बिटिया, मैंने काफी खोज-बीन करवाई है । परन्तु उसका कुछ पता नहीं लगा ।”

एक दिन आकर मुझे सूचना दी—“वह तो आवारा और बदलन था । वह कुछ बदलन औरतों के साथ शराब में घुत आवारा-गर्दी करता पकड़ा गया है और उसे उसी आरोप में कई साल की सज्जा मिल गई है ।”

फिर एक दिन आकर मुझे समझाने लगे—“बेटी, उसके साथ तुम्हे कैसी कष्टमय ज़िन्दगी बितानी पड़ी है, यह मैं जानता हूँ । भले ही तू मेरी आँखों से दूर रही है, फिर भी मैं तेरी खोज खबर रखता रहा हूँ । क्या तू समझती है कि तुम्हे कष्ट में देखकर मुझे कष्ट नहीं होता !”

फिर एक दिन बोले—“तू तो मुझे हृदयहीन समझती है । मैं

पता नहीं तेरे मन से कभी यह भावना निकाल पाऊँगा या नहीं । परन्तु एक दिन तू स्वयं सचाई जान जाएगी ।”

एक दिन बोले—“वह तो आलसी और निकम्मा युवक था । उसने पढ़ना-लिखना भी छोड़ दिया था । वह तुझे कमाकर खिला भी नहीं सकता था । वह तो लड़कियों का पीछा करने के लिए बदनाम था ।”

एक दूसरे दिन बोले—“तू उससे तलाक क्यों नहीं ले लेती ? उसमें कोई भी तो गुण नहीं है ।”

फिर एक दिन बोले—“बेटी, मैं बूढ़ा हो गया हूँ । मुझसे तेरा कष्ट देखा नहीं जाता । मैं चाहता हूँ कि अपने सामने तुझे किसी सुयोग्य वर को सौंप जाऊँ । सिर्फ तेरे हाँ करने की देर है ।”

इस प्रकार की बातें रोज सुनते-सुनते मेरे कान पक गए । क्या मुझ पर कम्युनिज्म की सिद्धान्तारोपण (Indoctrination) की प्रक्रिया का प्रयोग किया जा रहा था ?

यही गनीमत है कि पापा ने मेरे बच्चे से कभी विरक्ति नहीं जताई, कम से कम व्यवहार में । और यही देखकर मुझे कभी-कभी लगता कि शायद ये सब बातें सच हों और पापा मेरे हित की बात ही करते हों । हो सकता है कि यौवन के प्रथम आवेग में मेरी बुद्धि पर विवेक के बजाय वासना का आवरण पड़ा हो और मैं उचित व्यक्ति का चुनाव न कर पाई हूँ ।

X

*X

X

जिस दिन मैंने अपने पापा को सूचना दी कि मैंने अदालत में ग्रेगरी से तलाक की दरखास्त दे दी है, उस दिन पापा की खुशी का ठिकाना नहीं था ।

पापा फिर मुझे उसी तरह प्रेम करने लगे । फिर मुझे सब जगह अपने साथ ले जाने लगे और मेरे प्रति उनका व्यवहार उसी तरह सहज हो आया जैसे पहले था ।

१९४६ में मास्को विश्वविद्यालय से मैं एम० ए० की डिग्री लेकर ग्रेजुएट हुई और उसी वर्ष अपने परम विश्वसनीय और सारे रूस में

पापा के दायें हाथ तथा उत्तराधिकारी समझे जाने वाले मार्शल जदानोव के पुत्र यूरी जदानोव से पापा ने मेरा विवाह रचा डाला ।

ग्रेगरी मेरे मन से उत्तरा नहीं था । पर उसके मिलने की कोई सम्भावना नहीं थी । मेरा बसा-बसाया घोंसला उजड़ चुका था । मैंने सोचा—अब तक मैं अपने मन से चलती आई थी, एक बार पापा के मन से भी चल कर देख लूँ ।

और पापा ने सचमुच बड़े शौक से मेरा व्याह रचाया । कितना उछाह और खुशी थी उनके मन में । इसका अन्दाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि विश्वयुद्ध के बाद के उन अभाव के दिनों में भी पापा ने मेरी शादी के उपलक्ष्य में इतने विशाल भोज का आयोजन किया कि उसे 'न भूतो न भविष्यति' कहा जा सकता है । जार-कालीन शाही ठाठबाठ से उन्होंने पाँच-दस या पचास-सौ आदमियों को नहीं, लगभग पाँच लाख लोगों को दावत दी और वह भी एक या दो दिन के लिए नहीं, बल्कि पूरे दो सप्ताह के लिए । उस दावत पर पापा ने लगभग दो लाख पौण्ड खर्च किए और फेंच, क्रीमियन, स्पेनिश तथा जर्मन शराबों की नदी बहा दी ।

मेरी इस शादी की शान की धूम सारे देश में मच गई । पापा भी आश्वस्त हुए । उन्होंने शायद महसूस किया हो कि मेरी मां और पत्नी का पूरा क्रृष्ण उन्होंने चुका दिया ।

कैसे विचित्र हैं ये बुजुर्ग लोग भी । शादी की शानो-शौकत, आडम्बर और उस पर होने वाले खर्च से वे विवाह की सफलता या असफलता नापते हैं । क्या शादी का अर्थ पैसे का प्रदर्शन और अपव्यय ही है ! विवाह का जो अर्थ होना चाहिए—दो आत्माओं का मिलन, शायद उस अर्थ को छिपाने के लिए ही इतना अधिक आडम्बर किया जाता है !

×

×

×

मेरा पुत्र जोसेफ अब तीन-चार साल का हो रहा था और अब भी कभी-कभी ग्रेगरी मेरे स्वप्नों में आ घमकता था, फिर भी मैं कहूँगी कि मैंने यूरी जदानोव को विभक्त मन से नहीं, पूर्ण और

अविभक्त मन से ही स्वीकार किया था ।

मैं माँ बन चुकी थी, इसलिए मुझ में केवल स्त्रीत्व नहीं, बल्कि मातृत्व भी छलकता रहता था ।

और यूरी के लिए मैं क्या कहूँ ? उसके प्रेम में कमी नहीं थी । परन्तु वह मुझ से सदा स्त्रीत्व की ही कामना करता रहता था, मेरा मातृत्व वाला रूप उसे नहीं सुहाता था ।

मैं अपने मातृत्व को कहाँ फेंक देती ?

और क्या स्त्रीत्व का परिपाक ही मातृत्व नहीं है ?

परन्तु स्त्री के कामिनी रूप के उपासक यूरी को जब मैं जगद्धात्री का रूप धारण करके माता का सा संरक्षण देने का प्रयत्न करती तो वह चिढ़ जाता । वह कहता—“तुम मेरी सुरक्षा की इतनी परवाह क्यों करती हो, क्या मैं स्वयं इतना असमर्थ हूँ कि अपना ध्यान खुद नहीं रख सकता ?”

फिर कभी कहता—“हम दोनों तो उड़ते पंछी हैं—मुक्त गगन में विहार करने के लिए । तुम क्या घोंसले में बैठी-बैठी अण्डे सेना पसन्द करती हो ?”

मैं उसे कुछ जवाब न देती, किन्तु उसकी सुरक्षा के प्रति मेरी सतर्कता और बढ़ जाती । यथासमय उसके खाने, यथासमय उसके सोने और यथासमय उसकी अन्य सब बातों का ध्यान मैं इतनी तत्परता से रखती कि मेरी यह तत्परता ही उसे अखर जाती ।

जब येकातरीना मेरे पेट में आई तब उसकी विरक्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगी । ज्यों-ज्यों मेरा प्रसव-काल निकट आता गया त्यों-त्यों मैं यह महसूस करने लगी कि जैसे मैं अकेली छोड़ दी गई हूँ । यूरी तो ऐसे दूर हो गया जैसे इस सारे काण्ड से उसे कुछ लेना-देना न हो । परन्तु मैं तो उसे प्रभु का नया अवतार समझ कर ही ग्रहण कर रही थी ।

बच्ची के जन्म के साथ मेरा प्रेम जोसेफ और येकातरीना में बँट गया । मेरी जिम्मेवारियाँ भी बढ़ गईं । फिर भी मैंने अपनी ओर से यूरी की कभी उपेक्षा नहीं की । उसी के मन में दिन प्रतिदिन यह विचार पता नहीं क्यों घनीभूत होता गया कि जोसेफ और येकातरीना

की दैनिक जीवनचर्याओं में उलझी मेरे पास अब उसके लिए अलग से कोई समय नहीं रह गया है ।

वह रात को अक्सर देर से घर आने लगा था और कभी-कभी शराब के नशे में धुत ।

X

X

X

१६५३ के मार्च मास के प्रारम्भ से ही मुझे तरह-तरह के अशुभ स्वप्न आने लगे । कभी रात्रि के अन्धकार में, जब सारी दुनिया सो रही होती, मुझे दूर कहाँ से कुत्तों के सम्मिलित क़न्दन की सी आवाजें आने लगतीं । कभी लगता कि मैं अकेली अचानक घने ज़ंगल में भटक गई हूँ और मुझे चारों ओर से सियारों ने घेर लिया है ।

एक रात मुझे स्वप्न आया कि मैं किसी गहरे कुएँ में उत्तरती जा रही हूँ—ज्यों-ज्यों नीचे उत्तरती जाती हूँ त्यों-त्यों उसकी तली और नीचे खिसकती चली जा रही है । कुएँ की तली में पानी जम कर बर्फ बन गया है, ऐन सफेद भक्त बर्फ । उस सफेद बर्फ के ऊपर एक काली कराली चाण्डाली खड़ी है और मुझे इशारे से अपने पास बुला रही है । मैं सीढ़ियां उत्तरती जाती हूँ और जब उत्तर कर कुएँ की तली में जमी बर्फ पर पांव रखती हूँ तो एक ठण्डी लहर सारे शरीर में व्याप जाती है और मैं ठण्ड से थर-थर कांपने लगती हूँ । मुझे कांपते देखकर बर्फ पर खड़ी वह भयानक आकृति वाली डायन अटूहास करके नाचने लगती है । उसके उस अटूहास से मैं इतना डर जाती हूँ कि सारे शरीर में पसीना छूट आता है ।

अगले दिन सबेरे उठते ही मैंने पापा को फोन किया ।

परन्तु फोन का जवाब पापा ने नहीं, किसी और ने दिया । एक भारी भरकम आवाज ने कहा—“वे बीमार हैं ।”

मैंने फोन पर ही आग्रह किया—“मैं उनकी बेटी बोल रही हूँ—स्वेतलाना । जरा पापा को फोन तो पकड़ाओ, मैं उनके मुँह से ही उनका हालचाल तो जान लूँ ।

भारी आवाज ने कहा—“बोलना मना है ।”

“जरा उनको फोन दो तो सही । मुझसे उनका बात करना मना

नहीं हो सकता । मेरा जी घबरा रहा है । जल्दी करो ।”

“भगर वे तो बेहोश हैं ।”

“तुम कौन बोल रहे हो ?”

“पहरेदार !”

मेरे हाथ से फोन छूट गया ।

क्रेमलिन की सत्ता-राजनीति के षड्यन्त्रों से परिचित मेरे लिए यह अनोखी घटना नहीं थी । कहीं ऐसा तो नहीं कि पापा की विरोधी नेता मण्डली क्रेमलिन की सत्ता पर काबिज हो गई हो और पापा की वही गति हुई हो जो पापा ने अपने विरोधियों की की थी ।

मुझे चैन नहीं पड़ा ।

४ मार्च को पापा का सेक्रेटरी मुझे लेने आया ।

पापा उस समय मास्को से बाहर कुन्तसेवो के प्रासाद में थे । अक्सर बीमारी में या आराम करने के लिए वे कुन्तसेवो चले जाया करते थे । सन् ४६ में यूरी से शारी करने के बाद मैं केवल एक बार कुन्तसेवो गई थी । पापा ने तब ७२ वर्ष की आयु में जिस प्रगाढ़ अनुराग से मेरा चुम्बन किया था और देर तक मुझ से बातें करते रहे थे उसकी स्मृति अभी तक मुझे सजीव बनाए हुए थी । उसके बाद न मैं कभी कुन्तसेवो गई, न कभी उनसे एकान्त में बात की ।

मैं जब कुन्तसेवो पहुँची तब पापा के चारों ओर बुलगानिन, ख्युश्चेव, मालेन्कोव और मोलोतोव बैठे हुए थे और इन सबकी आँखों में आँसू थे । पापा की जवान बन्द हो चुकी थी, किन्तु आँखें अभी तक खुली थीं और उनमें अभी तक ज्योति की रेखा बाकी थी ।

पता नहीं, पापा ने मुझे पहचाना या नहीं, परन्तु उनकी आँखें और सब ओर से हटकर मेरी तरफ ही लगी हुई थीं ।

मैं जोर से चिल्लाई—“पापा पापा !” परन्तु उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया ।

मेरी ओर देखते ही देखते उनकी आँखें बन्द हो गईं ।

मैं धाढ़ मार कर रो पड़ी और पापा के पाँवों पर लुढ़क गई ।

“पापा, मुझे माफ करना, मैं तुम्हारे स्वप्नों की पूर्ति नहीं कर सकी ।”

क्षण भर को मुझे ध्यान आया कि चारों ओर बैठी नेताओं की यह मण्डली ही तो कहीं मेरे पिता की जान लेने की जिम्मेवार नहीं है ? और तब अपने पापा की लाश के चारों ओर बैठे वे सबके सब मुझे मुर्दार खाने वाले गिर्दों की पाँत से दिखाई देने लगे ।

धीरे-धीरे वे सब एक-एक कर वहाँ से चले गए । मैं अपने पापा की लाश के पास अकेली रह गई ।

मन में आया—अपना कान पापा के मुँह के पास ले जाकर कहूँ—“पापा, मेरे कान में बता दो कि तुम्हारी मृत्यु का रहस्य क्या है ?”

मैं पगली । कहीं लाश भी बोला करती है ?

मैं घण्टों अकेली बैठी रही । रोते-रोते मेरी आँखों का पानी सूख गया ।

फिर पापा को फूलों से ढक दिया गया । अन्य कर्मचारियों की दौड़वूप शुरू हो गई ।

और मुझे वहाँ से हटा दिया गया ।

×

×

×

अब मैं कहाँ जाऊँ ?

मेरे लिए जैसे रूस की छत फट गई और मैं अनन्त आकाश के नीचे अकेली और निस्सहाय खड़ी रह गई ।

जिसकी भूकुटी के इशारे पर सारा रूस नाचता था, अब उसके न रहने पर रूस पता नहीं, अनाथ हुआ या नहीं, पर मैं तो सचमुच ही अनाथ हो गई ।

७

यूरी ने कहा—“स्वेता, अब क्या होगा ?”

७६

मैंने कहा—“इसकी फिक्र मुझसे अधिक तुम्हें होनी चाहिए ।”
“हाँ, हाँ, वही तो मैं कहता हूँ । मेरी तो जैसे दुनिया लुट गई ।”

मैं स्तब्ध होकर यूरी के मुँह की और देखने लगी । क्या यह मेरे मुँह का वाक्य छीनकर अपने मुँह से बोल रहा है ? यह वाक्य मैं कहती तो शायद जंचता । इसकी दुनिया लुटने की बात में क्या तुक है ?

मैंने जानबूझकर ही बात को मोड़ देते हुए कहा—“मेरे पापा का ही तो स्वर्गवास हुआ है । मेरे पति तो अभी जीवित हैं । जब तक तुम मेरे सिर पर बैठे हो, तब तक मुझे किसी बात की क्या चिन्ता है ? मेरे पापा स्वयं तुम्हारे जैसे समर्थ व्यक्ति के हाथ में मेरा हाथ पकड़ा कर गए हैं. मैं क्यों चिन्ता करूँ ? मैं हूँ, मेरे बच्चे हैं, और तुम हो—मेरी दुनिया भरी-पूरी है । मैं कैसे कहूँ कि मेरी दुनिया लुट गई है ?”

यूरी बोला—“स्वेता, तुम समझती नहीं हो । केवल पति-पत्नी और बच्चों से ही दुनिया नहीं बनती । दुनिया बनने के लिए और बहुत कुछ चाहिए ।”

“मैं तो इसी को दुनिया समझती हूँ । परन्तु तुम जिसे दुनिया समझते हो, वह कौन-सी है, यह भी तो सुनूँ ।”

यूरी बोला—“अब तुम्हें क्या बताऊँ ?”

मैंने भी बहुत आग्रह नहीं किया । उस समय तो बात टल गई । पर मैं समझ गई कि यूरी की भी ‘दुनिया कहीं न कहीं लुटी’ अवश्य है, नहीं तो यह इस तरह नहीं कहता । परन्तु वह दुनिया कौन सी है ?

एक दिन शाम को हम बाग में घूमने गए । पापा के स्वर्गवास का बोझ अभी मन पर से हटा नहीं था । किन्तु शाम को खुली हवा में साँस लेने से जैसे जी हल्का होता जा रहा था ।

यूरी और मैं हाथ में हाथ डाले घूम रहे थे । हवा की ठण्डक अच्छी लग रही थी । बाग में सब ओर रंग-बिरंगे फूल खिले थे ।

मुझे कुछ अर्से पहले के उद्यान-ब्रमण का प्रसंग याद आ गया । तब पापा जीवित थे । मैं अपने दोनों बच्चों को और आया को साथ

लेकर बाग में धूमने आई थी । तब यूरी मेरे साथ नहीं था ।

उस दिन और आज के दिन में कितना अन्तर है ?

तब मेरे आते ही सारा बाग खाली करा दिया गया था । मेरे बच्चों और आया के सिवाय वहाँ और कोई नहीं था । बाग के चारों ओर पुलिस का पहरा था और मैं जब तक बाग में रही तब तक किसी अन्य व्यक्ति को बाग के अन्दर नहीं घुसने दिया गया था ।

परन्तु आज ?

आज कोई पहरा नहीं है । सारे बाग में मेरी ही तरह और लोग भी स्वच्छन्द रूप से धूम रहे हैं । बेंचों पर अक्सर युगल बैठे हैं । उनकी आँखों के हाव-भाव और संकेतों को देखकर यूरी का मन भी चंचल हो रहा है । कुछ युगल निर्लंज छोकर परस्पर चुम्बन और आर्लिंगन का भी आदान-प्रदान कर रहे हैं । पता नहीं कौन हैं ये युवक और युवतियाँ ? जो भी कोई हों । परन्तु इस प्रकार खुले आम प्रेम-प्रदर्शन क्या उचित है ?

यूरी मेरे होंठों की ओर ललचाई नज़र से देखने लगा । जब इधर-उधर की बेंचों पर बैठे युगलों की भाव-भंगी ने उसे उत्तेजित कर दिया तो उसने भी मेरी कमर में हाथ डाला ।

मैंने कहा—“यूरी, यह क्या करने लगे ? क्या ये लोग भी हमको अपने जैसा ही नहीं समझेंगे ?”

यूरी ने कहा—“समझने दो ।”

प्रतिकार करना व्यर्थ था । हम दोनों एक पेड़ की ओट में हो गए ।

लौटते हुए मैंने पूछा—“यूरी, तुम कब जा रहे हो ?”

यूरी ने मेरी आँखों में आँखें डालते हुए पूछा—“कहाँ ?”

“नए सिरे से अपनी विज्ञान की पढ़ाई शुरू करने ।”

यूरी ने पूछा—“तुम से किसने कहा ?”

“मुझसे कहा तो किसी ने नहीं, पर स्वयं ही मेरे मन में ऐसी बात आ रही है । अब तक पापा के कहने से मैंने इतिहास और अर्थ-

शास्त्र पढ़ा था, हालांकि मेरी रुचि उन विषयों में नहीं थी। अब मैं साहित्य और भाषा-विज्ञान का अध्ययन करना चाहती हूँ, जो मेरी रुचि के विषय हैं। तुम्हारी क्या राय है?”

“तुम्हारे बारे में या अपने बारे में?”—यूरी ने पूछा।

“हाँ, हाँ, दोनों के ही बारे में। वैसे मैंने तो अपना निश्चय कर लिया है। ठाली बैठे-बैठे मेरा मन नहीं लगता, पापा की याद आती रहती है। यों किताबों से घिरी रहूँगी तो मन भी लगा रहेगा।”

“ठीक है स्वेता, मैं भी अब नए सिरे से विज्ञान की पढ़ाई शुरू करूँगा। तुम्हारे पापा की याद मुझे भी बहुत परेशान करती है।”

दोनों के सामने अपनी-अपनी मजबूरियाँ थीं। परन्तु दोनों की मजबूरियाँ अलग अलग थीं। मैं अपने मन का खाली कोना भरना चाहती थी, यूरी अपने जीवन का खाली कोना भरना चाहता था।

इन्हे अर्से तक यूरी के साथ रहने के बाद मैं यह जान गई थी कि यूरी को मुझसे उतना मतलब नहीं था, जितना मेरे पापा से मतलब था। मेरा महत्व भी उसकी दृष्टि में केवल इसीलिए था कि मैं स्टालिन की पुत्री थी। अन्यथा उसकी दृष्टि में मुझ में और किसी अन्य स्त्री में कोई अन्तर नहीं था। हो सकता है कि अन्य सुन्दर लड़कियों की ओर भी उसका ध्यान जाता हो। जब तक मेरे पापा जीवित थे, तब तक इस प्रकार की किसी भी हरकत से वह इलिले बाज़ नहीं रहता था कि मैं क्या कहूँगी, बल्कि इसलिए कि यदि मेरे पापा को पता लग जाएगा तो वे उसे कहीं का नहीं छोड़ेंगे। उसके मन में अपनी पत्नी के प्रति कर्तव्यनिष्ठा की भावना उतनी प्रबल नहीं थी जितना पापा का आतंक था।

इसके अलावा उसके मन के किसी कोने में यह भी बात छिपी हुई थी कि यदि मेरे पापा उस पर प्रसन्न रहेंगे तो उसे देश के उच्च से उच्च पद पर अनायास पहुँचा देंगे। मेरे पापा के सामने उसका जैसा भीगी बिल्ली-सा और खुशामदाना व्यवहार होता था, उससे मुझे मन ही मन ग्लानि-सी होती थी।

एक बार उसने मुझसे कहा भी था अपने पापा से सिफारिश करने के लिए—कि वे उसे (यूरी को) अमुक उच्च पद पर प्रतिष्ठित कर

दें। परन्तु मेरा मन नहीं माना—न ही मैंने पापा के किसी राजनैतिक कार्य में कभी दखल देने की चेष्टा की।

यूरी ने इस बात के लिए कभी मुझसे जवाब तलब नहीं किया, परन्तु जब उस पद पर किसी अन्य व्यक्ति की नियुक्ति हो गई, तब से वह मुझ से कुछ और खिचा-खिचा रहने लगा।

अब मुझे ध्यान आता है कि उसने मुझसे विवाह करने की सह-मति भी इसीलिए दिखाई होगी। इस सम्बन्ध से यूरी और उसके पिता दोनों रूस के भाग्य-निर्मण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका की कल्पना करते रहे होंगे।

जब तक पापा रहे, तब तक यूरी के मन में आशा का दीप जलता रहा। न सही यूरी की खातिर, अपनी पुत्री की ही खातिर सही, पापा कुछ न कुछ तो करेंगे ही। वे अपनी पुत्री और दामाद को यों ही सामान्य हैसियत में पड़ा रहने नहीं दे सकते। नहीं तो लोग क्या कहेंगे!

परन्तु जब पापा नहीं रहे तो वह आशा का दीप भक्षण से बुझ गया। सचमुच ही यूरी के सपनों की दुनिया लुट गई।

और तब जैसे मुझसे विवाह का प्रयोजन भी उसके लिए समाप्त हो गया।

और हम दोनों अपनी रुचि के विषयों का अध्ययन करने के लिए मास्को विश्वविद्यालय की पोस्ट ग्रेजुएट कक्षाओं में दाखिल हो गए।

मैं अपनी किताबों और बच्चों में रमने का अभ्यास करने लगी।

यूरी के कमरे की रोशनी भी रात को काफी देर तक जलती रहती।

पहले हम दोनों नाश्ता और भोजन सदा साथ किया करते थे। अब वह नियम टूटने लगा।

कभी-कभी हम दोनों को आपस में बातचीत किए भी कई-कई दिन गुजर जाते।

यूरी अक्सर सबेरे जल्दी घर से निकल जाता और रात को भी देर से घर पहुंचता। सबेरे कब वह निकल जाता, कभी-कभी मैं जान

भी न पाती । रात को जब वह आता तो अक्सर मैं सो चुकी होती । घीरे-घीरे मुझे लगने लगा कि जैसे यूरी मुझ से आंखें चुराता है । सोचती थी कि कभी आमने-सामने बैठेंगे तो सुलह-सफाई कर लूँगी । परन्तु वह अवसर आ नहीं पाता था ।

मैं अपने बच्चों से और अधिक प्रेम करने लगी । जैसे यूरी की उपेक्षा का प्रत्युपाय मुझे मिल गया ।

यूरी अपने मन की रिक्तता कैसे भरता होगा—मैं नहीं जानती । एक दिन ।

चाँदनी रात थी । ठण्डक अच्छी खासी पड़ रही थी । मैंने कमरे में अंगीठी जला रखी थी और एक अंगीठी यूरी के कमरे में भी जला कर रख दी थी । मैं यूरी के उष्ण स्पर्श के लिए लालायित थी । पर यूरी अभी नहीं आया था ।

काफी देर बाद यूरी आया ।

मैं अभी तक जाग रही थी । मेरे कमरे की बत्ती भी जल रही थी । पर यूरी ने मेरे कमरे की ओर आँख भी नहीं उठाई ।

वह सीधा अपने कमरे में गया । बत्ती जलाकर उसने एक कम्बल उठाया और बत्ती बुझाकर तुरन्त कमरे से बाहर निकल गया ।

मैं देखती रही ।

देखती रही ।

और अपनी बच्ची को मैंने छाती से चिपका लिया ।

×

×

×

वचपन में पापा ने मुझे चिट्ठी लिखी थी—“स्त्रेतो बिटिया, मुझे तेरी बहुत याद आती है । मैं जल्दी ही घर आऊँगा ।

—तुम्हारा पापोचका ।”

मुझे उस चिट्ठी की याद आई । मन में आ रहा है कि आज उस चिट्ठी का जवाब लिखूँ—

“मेरे प्यारे पापोचका,

मुझे तुम्हारी बहुत याद आती है । तुम घर कब आओगे ?

—तुम्हारी बिटिया ।”

पर क्या यह मेरी चिट्ठी कभी पापा के पास पहुँचेगी ? क्या पापा कभी घर आएंगे ?

पापा, मैं जानती हूँ कि अब तुम कभी नहीं आओगे, परन्तु तुम्हारी याद तो सदा आएगी ।

पहले माँ की बहुत याद आती थी । धीरे-धीरे माँ को भूल कर मैंने पापा को पहचानना शुरू किया था ।

निर्मोही पापा, तुम सबकी दुनिया उजाड़ना ही जानते हो, या और भी कुछ ?

मैंने पहले दो बार घोंसला बनाने का प्रयत्न किया था । परन्तु तुमने दोनों बार उन्हें अपने हाथों से नोंचकर फेंक दिया । फिर तुमने स्वयं अपने हाथों से तिनके इकट्ठे करके घोंसला जमाया । पर पापा, यह क्या हुआ ? तुम्हारे हाथ का जमाया घोंसला भी टूट गया । पहले दोनों घोंसले तुमने जीते जी तोड़ दिए । और अब यह घोंसला मर कर तोड़ दिया ।

तुम्हारा बनाया घोंसला तुम्हारे बिना कैसे टिकता ?

पापा, सचमुच मुझे तुम्हारी बहुत याद आती है !

८

मैंकिसम गोर्की से पापा की मित्रता थी । गोर्की अक्सर क्रेमलिन आया भी करते थे । कभी-कभी पापा भी गोर्की के निवास स्थान पर जाया करते थे । एक बार गोर्की के निवास स्थान पर—सन् १९३२ में—पापा ने ही सर्वप्रथम ‘समाजवादी यथार्थवाद’ शब्द का प्रयोग किया था और उसके बाद सभी साहित्यकार इसी नारे को अपनी कृतियों द्वारा चरितार्थ करने में अपने जीवन की सार्थकता समझने लगे । स्वयं गोर्की भी अपनी मृत्यु के समय (सन् १९३६) तक ‘समाजवादी यथार्थवाद’ की ही उपासना करते रहे । वह समाज-

वादी यथार्थवाद क्या है, यह यद्यपि किसी के सामने स्पष्ट नहीं था, किन्तु नई शासन व्यवस्था की सफलता और उसकी प्रशस्ति उस समाज-वादी यथार्थवाद का आवश्यक अंग मानी जाती थी।

पापा के मन में यह राजनैतिक अनिवार्यता रही हो, या सम्भव है कि उनकी अपनी रुचि ही साहित्य में इतनी अधिक रही हो, कि किसी भी साहित्यकार की रचना को प्रकाशित करने की अनुमति देने से पहले वे टाइप की हुई पाण्डुलिपि स्वयं पढ़ते थे और अक्सर लाल नीली पेंसिल से उसमें संशोधन भी किया करते थे। पापा को यदि स्वयं साहित्य में इतनी रुचि न होती तो वे इतना समय किसी भी हालत में नहीं निकाल सकते थे।

उन्हीं दिनों का एक प्रसंग याद आता है—

गोर्की और लियोनोव दोनों रात्रि-भोज पर आमन्त्रित थे। वही ६-७ व्यक्तियों की^५ निश्चित मण्डली थी। अचानक किसी ने दोस्तो-एव्स्की की चर्चा छेड़ दी। लियोनोव के बारे में यह समझा जाता था कि वे दोस्तो-एव्स्की से बहुत प्रभावित हैं। उनके उपन्यासों से यह बात स्पष्ट भी हो जाती है। शायद लियोनोव को कुरेदने के लिए ही किसी ने दोस्तो-एव्स्की का नाम लिया हो।

गोर्की संयत भाव से कह रहे थे—“दोस्तो-एव्स्की ने रूसी जनता को कष्ट सहना सिखाया है, किन्तु हमें नए समाज में लोगों को सिखाना होगा कि वे इस मनोवृत्ति का परित्याग कर दें, क्योंकि तभी वे मानवता के पूर्ण गौरव को प्राप्त कर सकते हैं।”

लियोनोव बीच में कूद पड़े—“हाँ, दोस्तो-एव्स्की प्रतिक्रियावादी था। किसी को भी इस बात से इन्कार नहीं करना चाहिए। परन्तु फिर भी रूसी लेखकों को उसकी ज़रूरत है और हमेशा रहेगी?”

पापा की आँखें लियोनोव पर जम गईं। जैसे वे बटन दबने की प्रतीक्षा में थे और लियोनोव ने वह बटन दबा दिया था। वे मेज पर झुके और गरजे—“इसका क्या मतलब है? उसने क्या कहा? वह क्या कहना चाहता है? उसने क्यों कहा यह? किसने उसे यह कहने का अधिकार दिया?”

लियोनोव अन्दर से काँप उठे।

तभी गोर्की ने बीच में दखल देते हुए कहा— “दोस्तोएव्स्की का लियोनोव पर तथा इस पीढ़ी के और अनेक लेखकों पर बहुत उपाकर है। वह इन सबकी प्रेरणा का स्रोत है। लियोनोव ने जो कुछ कहा है उसे तुम ग़लत अर्थ में ले रहे हो। वह ज़रूरी नहीं है कि उसने जो कुछ कहा है उससे पूरी तरफ सहमत ही हुआ जाए। किन्तु अपनी बात उसे कहने का हक है और उसकी बात का आदर किया जाना जाहिए। कम से कम उसने अपनी अपनी कलम की नोक से रूसी लेखकों का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता अर्जित की है। रूसी साहित्यकारों की ओर से बोलने का उसे पूरा अधिकार है।”

गोर्की ही पापा से इस प्रकार की बात कह सकते थे।

पापा के मन का सन्देह तुरन्त दूर हो गया। उन्होंने लियोनोव से फिर अपना जाम भरने को कहा और स्वयं आगे बढ़ कर अपना गिलास उनके गिलास से टकराया और जामे-सेहत पिया।

लियोनोव की जान में जान आई।

‘

X

×

रूसी साहित्य के प्रेरणा-स्रोत दो हैं-- रूस की संस्कृति और रूस की राजनीति। रूस की संस्कृति ने उसे विदेशी प्रभावों से मुक्ति की ओर प्रेरित किया और राजनीति ने उसे राष्ट्रवाद की ओर प्रेरित किया। जब नेपोलियन ने रूस पर आक्रमण किया तब ये दोनों प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आईं। सचाई यह है उससे पहले तक फ्रांस की संस्कृति और उसके साहित्य से रूस काफी प्रभावित था और जो रूसी अफसर नेपोलियन की फौज से लड़ रहे थे वे भी जब आपस में बात करते थे तब फेंच बोलते थे, किन्तु आम जनता किसी भी विदेशी भाषा से घृणा करती थी। उसके बाद ही पुराने रूसी लेखकों की कृतियों का उद्धार प्रारम्भ हुआ और लेखक लोग रूसी भावभूमि, रूसी विषयवस्तु और रूसी वातावरण चुनने का आग्रह करने लगे।

रूसी साहित्य केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है। वह सामयिक घटनाओं से और रूस की जनता की दैनन्दिन समस्याओं से गुंथा

हुआ है। इसका कारण यह है कि जार के समय, क्रान्ति के बाद, विश्वयुद्ध से पूर्व और विश्वयुद्ध के बाद—वहाँ विवादग्रस्त राजनैतिक विषयों पर अपना अभिमत व्यक्त करना कभी खतरे से खाली नहीं रहा। इसीलिए लेखक गण खुले आम जो कुछ नहीं कह सकते थे उसे अपने उपन्यास के पात्रों के मुख से कथोपकथन के रूप में कहला देते थे। अन्य देशों में जो बहुत सी बातें पुरातत्व या इतिहास या विज्ञान की किताबों में स्थान पातीं वे रूस के उपन्यासों में स्थान पाती हैं। रूस के नागरिक भी उपन्यास के पात्रों के कथोपकथनों में अपनी राजनीतिक समस्याओं का हल ढूँढने के आदी हो गए हैं।

रूस के इस राष्ट्रीय पुनर्जागरण का सबसे अधिक श्रेय है पुश्किन को। पुश्किन ने रूसी भाषा के लिए जो कुछ किया वह शेक्सपीयर ने भी अंग्रेजी के लिए नहीं किया होगा। उसने उपन्यास, कविता और नाटक—सभी पर अपनी अमिट छाप छोड़ी। उसने जैसे रूसी भाषा को पंख लगा दिए और वह अनन्त गगन में उड़ने में समर्थ हो गई।

रूसी साहित्य को समझने के लिए संस्कृति और सभ्यता का अन्तर समझना आवश्यक है। संस्कृति का अर्थ है अपने ही अंग से उद्भूत और अपने ही अन्दर प्रसुप्त एक तत्व, जबकि सभ्यता का अर्थ है कोई ऐसी चीज़ जो मशीनी हो, बाहरी हो और कृत्रिम हो। संस्कृति प्रदेश विशेष पर निर्भर होती है, और इसीलिए वह किसी खास मिट्टी या परिस्थिति का स्वाभाविक विकास होती है, जब कि सभ्यता किसी भौगोलिक परिस्थिति पर निर्भर नहीं होती। संस्कृति का अर्थ है सृजन और विकास, जबकि सभ्यता का अर्थ है आविष्कार और भौतिक उन्नति। उदाहरण के लिए, यदि कोई आदमी उड़ना चाहे और वह हवाई जहाज़ का आविष्कार कर ले, तो यह सभ्यता कहलाएगी। किन्तु यदि उसी व्यक्ति के शरीर के अन्दर से कहीं से पंख निकल आवें तो यह संस्कृति होगी। सदाचार है संस्कृति, सद्-व्यवहार है सभ्यता। यदि किसी व्यक्ति में सदाचार का अभाव हो तो कोई भी व्यक्ति उसे सदाचार दे नहीं सकता। सदाचार कहीं बाहर से नहीं पाया जा सकता, परन्तु सद्-व्यवहार तो किसी को भी,

जानवर को भी, सिखाया जा सकता है।

अनेक लेखक रूसी संस्कृति के प्रतिनिधि हैं जबकि दूसरे लोग सम्यता के प्रतिनिधि हैं। प्रथम कोटि में दोस्तोएव्स्की आते हैं और दूसरी कोटि में तुर्गनेव। तुर्गनेव को पश्चिम के लोगों ने जो इतना चढ़ाया है, उसका एक कारण यह भी है कि वे पश्चिमी सम्यता के चतुर चित्तेरे थे। दोस्तोएव्स्की को प्रत्येक विदेशी चीज से घृणा थी। उसका कहना था : “संसार का कोई भी राष्ट्र, या समाज, बाहर से आयातित कार्यक्रम के आधार पर नहीं ढाला जा सकता।” इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे प्रत्येक विदेशी चीज से इसलिए घृणा थी कि वह विदेशी है। वह विदेशी विज्ञान और टैक्नोलौजी के विरुद्ध नहीं था, परन्तु विदेशी विचारों के विरुद्ध था।

यही वह राष्ट्रवाद था जिसने रूस के साहित्यकारों को चिरन्तन प्रेरणा दी है और इसी राष्ट्रवाद के कारण रूस की जनता अपने पाँवों पर खड़ा होना सीख सकी।

साहित्य के क्षेत्र में जो उग्र राष्ट्रवाद था, राजनीति के क्षेत्र में जाकर वह सैनिक तानाशाही बन गया।

परन्तु इस राष्ट्रवाद और सैनिक तानाशाही का दुष्परिणाम भी अवश्यम्भावी था।

कुछ ऐसी रचनाएँ भी पुरस्कृत हुईं जिनमें प्रतिभा का लेश भी नहीं था, केवल राष्ट्रवाद की विजय-दुन्दुभि का कोलाहल था। जो कम प्रतिभाशाली, किन्तु चतुर साहित्यकार थे, वे सरकार की और नवीन शासन-प्रणाली की प्रशस्तियाँ गा गाकर सरकारी संरक्षण पा गए, जबकि असली प्रतिभाशाली लेखक रोटी को भी मुँहताज हो गए। कई घटिया लेखक साल में केवल एक कविता-पुस्तक प्रकाशित हो जाने पर ही अपनी साल भर की रोटी के लिए निश्चित हो जाते थे, जबकि प्रतिभाशाली लेखकों की रचनाओं को छपने की अनुमति ही नहीं मिलती थी और वे बिचारे अन्य भाषाओं के साहित्य का रूसी भाषा में अनुवाद कर करके ही अपना पेट पालते थे।

इसके सबसे अच्छे उदाहरण हैं बोरिस पास्तरनाक। वे रूस में शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद करके अपनी रोजी चलाते थे किन्तु

प्रच्छन्न रूप से वे अपने हृदय का दर्द जिन रचनाओं में उँडेल रहे थे वे रूस में प्रकाशित नहीं हो सकती थीं। 'डा० जिवागो' संसार की सब भाषाओं में अनूदित होकर प्रकाशित हो चुकी होगी, किन्तु वह पुस्तक आज तक रूस में प्रकाशित नहीं हो सकी। उस पुस्तक पर उन्हें नोबल पुरस्कार भी प्राप्त हुआ, परन्तु रूस के सैनिक साम्यवादी शासन में उनको पुरस्कार देने की घटना को भी साम्राज्यवादियों का षड्यन्त्र घोषित किया गया। रूस की सरकार की ओर से उन्हें कभी मान्यता नहीं मिली। और सरकार का मुख देखकर बात करने वाले चाटुकार समाज ने भी उन्हें कभी प्रतिष्ठा प्रदान नहीं की। अन्ततः पास्तरनाक ने नोबल पुरस्कार लेने से इन्कार कर दिया। उनके मित्रों ने उन्हें रूस छोड़ कर चले जाने की सलाह दी, किन्तु उस देशभक्त लेखक ने कभी रूस छोड़कर बाहर जाना स्वीकार नहीं किया।

२ जून १९६० को पास्तरनाक की मृत्यु हो गई।

और तब जैसे रूस के साहित्यकारों और कलाकारों की पीर फूट पड़ी। सरकारी विरोध के बावजूद उसके शब को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए एक हजार से भी अधिक रूसी पत्रकार, साहित्यकार और बुद्धिजीवी एकत्र हुए, यह देखकर मैं चकित रह गई।

परन्तु रूस की जनता के मन पर आतंक में कभी नहीं हुई।

कोई विदेशी पर्यटक यदि आज भी रूस में जाकर पास्तरनाक की कब्र पर अपनी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाना चाहे तो कोई सामान्य रूसी नागरिक वह बताने को तैयार नहीं होगा कि पास्तरनाक की कब्र कौन-सी है?

X

X

X

सन् १९५६ को रूसी साहित्य का 'नया वर्ष' कहा जाता है। इससे पहले के साहित्य में पापा को सदा 'सोवियत-जनता के पिता' के रूप में चित्रित किया जाता था और उनके अन्दर दिव्य शक्ति का आरोपण किया जाता था। परन्तु तब पापा को मरे तीन साल हो चुके थे। रूस के तत्कालीन ऐसे सूत्रधारों ने, जो पापा के समय अन्दर से भले ही उनके विरोधी रहे हों किन्तु उनके विरुद्ध कभी जबान नहीं

खोल सके थे, अब अपनी असफलताओं को भी पापा के नाम थोपना शुरू कर दिया। सरकारी इशारों के संकेत पर चलने वाले लेखकों ने वैसी ही रचनाएँ लिखनी प्रारम्भ कर दीं।

इन्हीं दिनों काँसतेंतिन साइमोनोव का एक उपन्यास निकला—‘योद्धा सिपाही पैदा नहीं होते’। इस पुस्तक में पहली बार पापा की खुली आलोचना की गई। उपन्यास का नायक क्रेमलिन में पापा से मिलता है और वह स्थल सेना में अफसरों के सफाये के अभियान के बारे में पापा से पूछता चाहता है, किन्तु वह स्वयं उसी कार्रवाई का शिकार हो जाता है।

उन्हीं दिनों बलात् सामूहिक खेती के विरोध में लेखकों ने लिखना शुरू किया। इस प्रकार के लेखकों का मुख्य कटाक्ष पापा पर ही होता था।

फिर धीरे-धीरे मैंने मास्को में यह नारा भी सुना—लेनिन ने हमें जमीन दी और स्टालिन ने उसे छीन लिया।

उन्हीं दिनों की बात है। मास्को विश्वविद्यालय में छात्रों की संगीत गोष्ठी थी। भारयवश उस दिन संगीत गोष्ठी में मैं भी उपस्थित थी। एक छात्र ने गिटार पर एक लोकगीत सुनाया।

यातना-शिविरों में कैदियों को हर रोज अनिवार्य रूप से सरकारी प्रसारण सुनने पड़ते थे और उन प्रसारणों में बार-बार यह बताया जाता था कि रूस पहला समाजवादी देश है जो श्रमजीवियों की पितृभूमि है और जहाँ सबको न्याय मिलता है। यही ऐसा देश है जहाँ व्यक्ति को संसार भर में सबसे अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। इन प्रसारणों में जो गीत दिन में अनेक बार सुनाया जाता था वह था ‘विस्तृत है मेरी पितृभूमि’।

उसी गीत का उत्तर यातना-शिविर के बन्दी यों देते हैं—

कामरेड स्तालिन, तुम एक महान् वैज्ञानिक हो,
जबकि मैं एक सामान्य सोवियत् कैदी हूँ।

मेरा अन्तःकरण भी यह नहीं जानता कि मैं कैद क्यों हूँ,
पर स्पष्ट है कि मुझ पर मुकदमा चलाने वाले सच्चे हैं,
तभी तो मैं आज यहाँ तुरुखान्स्क देश में हूँ,
जहाँ जार के जमाने में कभी तुमने जेल काटी है ।

हमने चुपचाप किसी और के अपराध को स्वीकारा,
दुर्भाग्यपूर्ण नियति को गले लगाने के लिए हम आगे बढ़े,
कामरेड स्तालिन, हमें तुम पर जितना भरोसा था,
शायद उतना स्वयं अपने ऊपर भी नहीं था ।

वर्षा में, बर्फ में या मच्छरों से घिरे होने पर भी
हम अल-सुबह से अल-सुबह तक बियाबान में रहते हैं,
और लकड़ियाँ काटते रहते हैं और ढोते रहते हैं अपनी पीठों पर ।

तुम्हारी छाती अलंकारों और तमगों से लदी है,
और तुम्हारे बाल चिन्ता से सफेद हो गए हैं ।
छह बार तुम जेल से भागे,
और मैं अभागा, मूर्ख, एक बार भी भाग न सका ।

कल हमने दो मार्क्सवादियों को दफनाया
हमने उनके शवों को झंडों से नहीं ढका ।
उनमें से एक का 'दक्षिण पंथी रुझान' था,
जबकि दूसरे को यह श्रेय भी प्राप्त न था ।

पर सदा के लिए अपनी आँखें मूँदने से पहले
वह अपनी तम्बाकू की थैली और अपने अन्तिम शब्द
तुम्हें विरासत में दे गया :

कामरेड स्तालिन ! तुम सौ वर्ष जियो,
चाहे मुझे अभी दम तोड़ना पड़े ।
ईश्वर करे, इस्पात के उत्पादन का प्रतिशत
रोज रोज बढ़ता रहे ।

इस गीत में पापा के प्रति कितना तीखा व्यंग्य था, सो भी प्रच्छन्न
नहीं, बिल्कुल खुला !

परन्तु जब 'धायल सिपाही की दुःख गाथा' वाला हृदयस्पर्शी गीत
मैंने सुना तो मैं अपनी आँखों में आँसू नहीं रोक सकी । सिपाही धायल
पड़ा है अस्पताल में और उसकी पत्नी सोती है सेना के एक कलर्क के
साथ, और यह कलर्क अनेक पदकों से अलंकृत है :

मैं था वटालियन का स्काउट—

और वह सैन्य हैडवार्टर का कलर्क ।
मुझ पर रूस के गौरव का दारोमदार था,
और वह मेरी पत्नी के साथ सोता था निश्चन्त ।

ओ मेरी पत्नी, मेरी कुलटा क्लांका,
क्या तुझे सचमुच कोई फर्क नहीं लगा,
जो तूने गिर्धराज के बदले यह उच्छिष्ट स्वीकार किया है ?

मैं गिर्धराज—एक विलक्षण पुरुष,
मेरी शान के खिलाफ है उस नीच से बात करना भी ।
मास्को से बर्लिन की राह पर
मैं तीन वर्षों तक शवों पर चला हूँ ।

मैं युद्ध में जूझा हूँ और बाद में अस्पताल में
मैंने मृत्यु से भी संघर्ष किया है,
जब सब नसे रो रही थीं, और
सर्जन के हाथ में चाकू भी काँप रहा था ।

और मेरा वह वीर पड़ौसी रो रहा था ।
वह कर्नल था और अपनी वीरता के लिए

तीन बार अलंकृत हो चुका था,
वह आस्तीन से अपने आँसू पोंछ रहा था ।

लोहे के सत्यानाशी टुकड़े ने
मेरे मूत्राशय पर प्रहार किया था ।
मैंने बिस्तर के भीतर अपनी कृत्रिम टाँग को टटोला ।
और तभी वह सैनिक हैडक्वार्टर का
बल्कि मेरे सामने आया ।

मैंने उसकी सफेद छाती पर प्रहार किया,
मैंने उसके तमगे नोंच कर फेंक दिए ।
देखो ! ओ रूस के लोगो,
मेरी मातृभूमि के लोगो !

मैं पागलों की तरह
अपनी कुलटा बलांका से प्यार करता था ।
मेरी कृत्रिम टाँग उस पर प्रहार के लिए न उठ सकी,
अतः मैंने अपनी बैसाखी से उसे खूब पीटा ।

जब और अधिक वर्दाश्त नहीं हो सका तो मैं उठ कर चली आई ।
परन्तु इस धायल सिपाही की तस्वीर चिर काल तक मेरी आँखों में
झूलती रही ।

९

कृष्णसागर के तट पर सोची नगर । रूस का विश्वविस्यात
स्वास्थ्यवर्धक, विश्रान्तिदायक, मनोरम स्थान । समुद्र तट की रेत पर

वूप सेकने का और काया के चूने जैसे सफेद रंग को ताम्रवर्णी बनाने का ऐसा अच्छा सुयोग और कहाँ है ?

सन् ६० के सितम्बर मास में शारीरिक और मानसिक रूप से श्रान्त और कलान्त होने के कारण स्वास्थ्य लाभ के लिए मैं सोची गई ।

सोची मैं उस दिन मैंने एक व्यक्ति को देखा—प्रौढ़ होने पर भी उसकी काली आँखें दूर से ही चमक रही थीं ।

काली आँखें मेरी मानसिक दुर्बलता है । पता नहीं क्यों, वे बरबस मुझे खींचती रहती हैं ? क्या यह ग्रेगरी मोरोजोव की स्मृति का अवशेष है ?

मैं काली आँखों वाले उस व्यक्ति के पास गई ।

उसकी आँखों में ही नहीं, उसकी बातों में भी जादू था । मैं पहले दिन ही देर तक उस व्यक्ति के पास बैठी रही । न उसकी बात समाप्त होती थी, न उसकी बातों में मेरा रस समाप्त होता था ।

वह एक भारतीय था और उसका नाम था ब्रजेश सिंह ।

और जब मुझे पता लगा कि वह भारत की एक रियासत का राजकुमार है तो मुझे भी अपना 'क्रेमलिन की राजकुमारी' वाला रूप स्मरण हो आया ।

"तो तुम एक राजकुमार हो ?"

"तो तुम भी एक राजकुमारी हो ?"

पर कहाँ ? न अब वह राजकुमार था, न अब मैं राजकुमारी थी । हम दोनों ही जैसे राजसी वंश परम्परा के अतीत का बोझ ढो रहे थे ।

और ज्यों-ज्यों इस भारतीय के जीवन-वृत्त से मैं परिचित होती गई, त्यों-त्यों मेरी उसके प्रति रुचि बढ़ती गई ।

यह व्यक्ति यद्यपि मुझसे उम्र में १७ साल बड़ा था, परन्तु उम्र तो शरीर की होती है, मन की नहीं होती । और मैं देख रही थी कि पचास पार करने के बाद भी उसके मन में न कहीं हताशा है, न किसी के प्रति शिकायत का स्वर, बल्कि जो जैसा है उसको उसी रूप में ग्रहण करने की सहज दार्शनिक सी रस-वृत्ति है ।

इस व्यक्ति का हृदय कैसा बिल्लौर की तरह साफ है । यह मुझसे

कुछ भी छिपाता नहीं है। यहाँ तक कि अपने प्रेम-प्रसंग भी। उसने अस्कोट की राजकुमारी लक्ष्मीदेवी से शादी की और लीजल नामक एक चेक महिला उसके प्रेम में दीवानी होकर उसके पीछे-पीछे भारत आई, उसने हिन्दुत्व की दीक्षा ली और लीला देवी के रूप में परिणय सूत्र में बँध गई—और इन दोनों पत्नियों से उसकी सत्तानें भी हैं। यह सब उसने मुझे बता दिया।

उसने यह क्यों नहीं सोचा कि महिलाओं के सामने अपने प्रेम-प्रसंगों की चर्चा करके पुरुष उनकी नजरों में अपने आपको अक्सर गिरा लिया करते हैं। और फिर परदेसी महिला? जबकि संसार भर के परदेसी लोग परदेसी महिलाओं के सामने सदा अपने आपको पाक-साफ दिखाने के प्रयत्न में सरासर सफेद झूठ बोलते भी नहीं कतराते?

कैसे वह बचपन में गाँधी टोपी पहनने पर स्कूल से निकाला गया, कैसे उसने कालेज में अँग्रेज प्रिसिपल से झगड़ा किया, कैसे उसने भारत के स्वातंत्र्य-ग्रान्दोलन में हिस्सा लिया, कैसे वह भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् भी समाजवादी ग्रान्दोलन के सिलसिले में बन्दी बना, कैसे भारत के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी मानवेन्द्रनाथ राय के सम्पर्क में आया, कैसे डी बेलरा से परिचय हुआ, कैसे वह नाजीवाद के विरोध के कारण हिटलर की कैद में रहा, कैसे बनावटी पासपोर्ट से अनेक देशों की यात्रा करता रहा—इन सब कथाओं को सुनने के बाद जो व्यक्तित्व मेरे सामने उभर कर आया, वह अनोखा व्यक्तित्व था।

मुझे सबसे अधिक भली बात जो इस परदेसी में लगी वह थी मानवता के प्रति उसकी अगाध आस्था। वह मानवता को राष्ट्रों, जातियों, धर्मों और सभी प्रकार की सीमाओं से सदा ऊपर मानता था। क्या यही भारतीय संस्कृति है?

तभी मुझे एक प्रसंग याद आया।

डा० राधाकृष्णन, जो बाद में भारत के राष्ट्रपति भी बने, रूस में भारत के राजदूत बनकर आए थे। उनके पहले स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू की बहन श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित रूस में भारत

की राजदूत बनकर आई थीं। श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित ने अनेक बार मेरे पापा से मिलने का प्रयत्न किया, पर सफल नहीं हुई।

परन्तु जब डा० राधाकृष्णन राजदूत बनकर आए तो पापा ने उन्हें स्वयं क्रेमलिन में बुलाया—एक बार नहीं, दो बार।

और जिस दिन डा० राधाकृष्णन रूस में अपना कार्यकाल पूरा करके वहाँ से विदा होने लगे, उस दिन का दृश्य तो मेरी आँखों से उत्तरता ही नहीं।

सर्वपल्ली राधाकृष्णन क्रेमलिन में मेरे पापा से मिलने आए। जब सब औपचारिकताएं पूरी हो गई तब विदा होने से पहले सर्वपल्ली ने मेरे पापा का गाल थपथपाया। पापा एक क्षण के लिए स्तब्ध रह गए। उन्हें जीवन में पहली बार ऐसा स्नेह मिला था।

अगले ही क्षण पापा बोले—“मुझे प्रसन्नता है कि आपने मानव समझकर मेरे प्रति मानवीय स्नेह का भाव दर्शाया है, वरना और लोग तो मुझे मानवेतर प्राणी समझते हैं।”

आते-आते सर्वपल्ली ने पापा की पीठ पर हाथ रखा, जैसे आशीर्वाद दे रहे हों, हालाँकि पापा आयु में उनसे बड़े थे। जब सर्वपल्ली ने विदा होने के लिए पीठ मोड़ी तो मैंने देखा कि पापा रूमाल से अपनी आँखें पोंछ रहे थे।

×

×

×

सोची का उपचार और जलवायु दोनों ब्रजेश सिंह के अत्यन्त अनुकूल सिद्ध हुए। धीरे-धीरे वे स्वस्थ होने लगे।

क्या उनके स्वास्थ्य में मेरी उपस्थिति भी कुछ कारण रही?

एक दिन मैंने—“अब कहाँ जाओगे?”

“दुनिया बहुत लम्बी है। कहाँ भी चला जाऊँगा।”

“तो क्या रूस छोड़ कर जाने का इरादा है?”

“इसका यह अर्थ तुमने कैसे लगा लिया?”

“यदि रूस में रहोगे तो भी कुछ पता-ठिकाना तो होगा ही।”

“हम दीवानों का क्या पता ठिकाना।”

“क्या विना धोंसले के भी पंछी रहते हैं।”

“तुम रह तो रही हो ?”

“मेरी बात छोड़ो ।”

“तो मेरी बात भी छोड़ो ।”

तभी मेरे सामने स्त्री और पुरुष का भेद स्पष्ट हो गया । जितनी आसानी से पुरुष यह बात कह सकता है, उतनी आसानी से स्त्री नहीं कह सकती ।

मैंने कहा—“आप पुरुष हैं । मुक्त गगन में विहार करने के लिए प्रभु ने आपको शक्तिशाली पंख दिए हैं, जबकि मैं स्त्री हूं, मेरे पंख जमीन पर बैठकर अपने बच्चों को सुरक्षित रूप से सेने के लिए हैं ।”

ब्रजेश सिंह आर्द्ध हो गए । बोले—“यह बात तो तुमने भारतीय नारी की-सी कही है ।”

“क्या और देशों की नारियाँ भारत की नारियों से भिन्न होती हैं ? फिर तुम कैसे मानवतावादी हो ?”

“मानता हूं, मानता हूं स्वेतलाना ! तुम ठीक कहती हो । मानवता सर्वत्र समान है ।”

“पर मेरा प्रश्न तो अभी तक अनुत्तरित ही है ?”

“कौनसा प्रश्न ?”

“वही कि रूस में ही रहोगे तो कहाँ ठहरोगे ?”

“हम तो मस्त मौला आदमी हैं—‘मस्ती का आलम साथ चला, हम धूल उड़ाते जहाँ चले ?’ अभी तो कुछ पता-ठिकाना है नहीं । अभी कुछ दिन रूस में ही रहने का और गुजारे के लिए किसी काम-धन्धे की तलाश का इरादा है ।”

फिर थोड़ी देर ठहर कर बोले—“क्यों, तुम इस विषय में मेरी कुछ मदद कर सकती हो ?”

“किसमें ? काम में या ठहरने में ?”

“दोनों में ।”

“हाँ, क्यों नहीं । पर मेरी एक शर्त है ।”

“क्या ?”

“जब तक तुम्हारा कहीं काम धन्धा न लग जाए और तुम्हारा कहीं ठिकाना न हो जाए तब तक तुम मेरे यहाँ मेरे ही अतिथि

बनकर रहोगे ?”

“राम रे राम, क्रेमलिन की राजकुमारी के साथ ?”

“देखो, मेरा मजाक मत उड़ाओ ।”

“हमारे देश में कई ऐसे प्रदेश हैं जहाँ भारतीय नारियाँ अपने पतियों को जाने नहीं देना चाहतीं । उन प्रदेशों के बारे में यह मशहूर है कि वहाँ की स्त्रियाँ आगन्तुक पुरुषों को बकरा बनाकर रख लेती हैं और अपने घर के खूटे से बाँध देती हैं । फिर वे पुरुष कभी लौटकर अपने घर नहीं पहुँचते ।”

“तुम निश्चिन्त रहो । मैं तुम्हें बकरा बनाकर नहीं रखूँगी । तुम ऐसे ही आजाद रहोगे, जैसे अब हो ।”

“कौन जाने ?”

“अच्छा तुम्हारी मर्जी ।” और वह खिन्न हो उठी ।

“नहीं स्वेता, नाराज मत होओ । मैं तुम्हारा ही अतिथि बनकर रहूँगा । मेरा इससे बड़ा सौभाग्य और क्या होगा ?”

×

×

×

जब से ब्रजेशसिंह मेरे यहाँ आकर रहने लगे, मुझे अपने घर की हरेक चीज में नवीनता दिखाई देने लगी । मेरे शरीर में भी जैसे धौंवन का ज्वार पुनः लहरें मारने लगा । मैं न जाने सारे समय कैसे खोई-खोई रहती । तन और मन दोनों मगन ।

मैं उन दिनों मास्को के फॉरेन पब्लिशिंग हाउस में अनुवादक का काम करती थी । मेरे कहने से ब्रजेशसिंह को भी वहीं काम मिल गया ।

हम दोनों साथ ही काम पर जाते और साथ ही घर आ जाते ।

अब मुझे घर के कामों में रस आने लगा । अपने हाथ से चाय बनाकर पिलाने में और अपने हाथ से खाना बनाकर ब्रजेशसिंह को खिलाने में मुझे कंसा आनन्द आता था ।

धीरे-धीरे ब्रजेशसिंह और मेरी दोनों की दुनिया एक दूसरे में केन्द्रित होती गई ।

मेरे पास पाँच कमरे का फ्लैट था । मेरा मासिक बेतन भी एक हजार रुबल से ऊपर था । मुझे किसी प्रकार की कोई दिक्कत नहीं थी ।

मेरे बच्चे ब्रजेशसिंह को 'अंकल' कहने के आदी हो गए और ब्रजेशसिंह भी उन्हें प्यार करते। वे अक्सर उनके साथ खेलते, उन्हें उनकी रुचि की कहानियाँ तथा देश-विदेश की बातें सुनाया करते।

घर क्या होता है? क्या चहारदीवारी का नाम घर है? क्या प्रकृति के प्रकोपों से बचाने वाली जगह का नाम घर है? कोई होटल घर क्यों नहीं बन सकता? घर में 'अपने' की भावना कहाँ से आती है?

'अपना' घर इंट-पत्थरों से नहीं बनता। वह तो मन के तारों का बनता है। भौतिक सुविधाओं को दृष्टि से मेरे घर में कोई अभाव नहीं था। मेरे बच्चे भी आज्ञाकारी और मुझसे प्रेम करने वाले थे। परन्तु ब्रजेशसिंह के आने के बाद जैसे अपना घर नये सिरे से मुझे अपना लगने लगा। जब तक एक दूसरे के मन को समझने वाले दो प्राणी घर में न हों, तब तक घर कैसा?

ब्रजेशसिंह के स्वभाव में राजसीपना था। सुरुचि-सम्पन्न लोगों की तरह तुनुक-मिजाजी भी उसमें कम नहीं थी। परन्तु मेरे यहाँ आकर उसको वह तुनुक-मिजाजी और शाही तबियत कहाँ चली गई? जितना ख्याल मैं उसका रखती, उससे कम वह मेरा ख्याल नहीं रखता। कभी-कभी वे घर के काम-काज में भी मेरा हाथ बैठाने लगते। मैं मना भी करती तो वे कहते—“नहीं, मुझे इसमें आनन्द आता है!”

कभी-कभी वे कुर्सी पर बैठे-बैठे मुझे काम करता देखते रहते तो मुझ भाव से देखते ही रहते। मैं जब पूछती कि “इस तरह क्यों मुझे दूर रहे हो?”—तो कहते—“मैं तुम्हारे अन्दर से तुम्हारा अतीत पढ़ रहा हूँ?”

मैं कहती—“मेरा अतीत?”

“हाँ, तुम्हारा अतीत!”

“पर वह अतीत अब कहाँ है? अब तो केवल वर्तमान है। इस वर्तमान के पीछे अतीत को याद करने से फायदा?”

“पर स्वेता, मेरा तो सब अतीत तुम्हें मालूम ही है। मैं तो एक-एक कर सब कुछ तुम्हें बता चुका हूँ। परन्तु तुम्हारा अतीत? तुमने अपने अतीत के बारे में कभी कुछ नहीं बताया?”

मैं व्रजेशसिंह की ओर देखने लगी। बोली—“मेरे अतीत के प्रति तुम्हारी इतनी जिज्ञासा क्यों है?”

“क्योंकि ऐसी जिज्ञासा मानव के लिए अत्यन्त स्वाभाविक है।”

“तो सुनो, मेरा अतीत मर चुका है। समझ लो कि जो तुम्हारा अतीत है, उससे भिन्न मेरा अतीत नहीं है। मैं उसे याद नहीं करना चाहती।”

“स्वेता, हम हिन्दू लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं और यह मानते हैं कि हममें से हरेक व्यक्ति के अनेक जन्म होते हैं। पता नहीं, कितने जन्म-जन्मान्तरों के चक्कर में से गुजर कर हमने इस जन्म में यह रूप पाया है और इस जीवन की समाप्ति के बाद भी हमारे न जाने और कितने जन्म होंगे।”

“फिलासफी तो बड़ी अच्छी है। कभी-कभी मेरा भी मन यही मानने को होता है। यद्यपि हमारा भौतिकता-प्रधान समाज और हमारा मार्क्सवाद तथा साम्यवाद इस प्रकार की किसी बात में विश्वास नहीं करता और वह धर्म, ईश्वर तथा अध्यात्मवाद को निरा ढोंग समझता है, किन्तु मुझे लगता है कि सत्य यहाँ तक सीमित नहीं है। …मेरी और तुम्हारी यह भेंट ही ले लो। कब किसने इसकी कल्पना की थी? परन्तु अब लगता है कि जैसे यह पूर्वजन्म की ही घटनाओं का कोई षड्यन्त्र है। कहाँ तुम, कहाँ मैं? सर्वथा दूर देश के अजनबी और अपरिचित। परन्तु अब लगता है कि इतनी धनिष्ठता तो मेरी अब तक किसी भी व्यक्ति से नहीं रही।”

“स्वेता, यह तुम क्या कहती हो?”

“मैं जो कहती हूँ, ठीक कहती हूँ। मैं यही अनुभव करती हूँ।”

“स्वेता, अन्तराल में कहीं यही ध्वनि मुझे भी सुनाई देती है।”

“सच्?”

“एकदम सच्।”

और तब मेरे मन में आया कि हाथ का काम छोड़ कर मैं व्रजेश-सिंह से लिपट जाऊँ और उसकी छाती में अपना मुँह छिपा लूँ। परन्तु पता नहीं, क्या सोच कर मैं ठगी-सी खड़ी की खड़ी रह गई।

कुछ देर मुझे प्रकृतिस्थ होने में लग गई। मैंने पूछा—“अगर

यह पूर्वजन्म वाली बात सही है तो यह बताओ कि उस जन्म की बात इस जन्म में याद क्यों नहीं रहती ?”

ब्रजेशसिंह बोले—“मान लो कि पूर्व जन्म की सब बातें हमें ज्यों की त्यों याद रहतीं तो क्या इस जन्म में जीना सुखकर होता ? कितना कष्ट, कितनी वेदना, कितनी हताशा, कितनी प्रताङ्गना और कितनी विडम्बना भेलनी पड़ती है मनुष्य को जीवन में और फिर कितना संघर्ष करना पड़ता है अपने अन्दर ही अन्दर । इसी जीवन के कष्टों की परम्परा स्मृति-पथ पर चढ़ कर हमें परेशान कर देती है । यदि पिछले जन्मों की विपत्कथाएँ भी इसमें जुड़ जातीं तो हम जैसे सदा ही प्रेत-बाधाओं से घिरे रहते । जिसने हमें जन्म दिया है, उसका इससे बढ़ कर हम पर और कुछ उपकार नहीं हो सकता कि वह समस्त कटु-स्मृतियों का लेखा-जोखा अपने पास रख ले और हमें नए सिरे से इस संसार के क्रीड़ा-क्षेत्र में खेलने के लिए छोड़ दे ।”

मैं जैसे मन्त्रमुग्ध होकर सुनती रही । मुझे लगा कि भारत का ही कोई दार्शनिक ऐसी वाणी बोल सकता है । क्या ब्रजेशसिंह की आत्मा में भी भारत का कोई प्राचीन कृषि छिपा बैठा था ?

मैंने कहा—“मैंने महात्मा बुद्ध की कथाओं में पढ़ा है कि उनके भी अनेक जन्म हुए थे और जातकों में उनके विभिन्न जन्मों की कथाओं का भी वर्णन है । पर ब्रजेश, मुझे यह बताओ कि क्या एक ही जन्म में अनेक जातक घटित नहीं हो सकते ?”

ब्रजेश सिंह बोले—“कैसे कहूँ कि नहीं हो सकते । विज्ञान वाले ही मानते हैं कि सात साल के बाद मनुष्य के शरीर के सब अवयवों के तन्तु बदल जाते हैं, फिर नए बन जाते हैं, तो क्या मन के तन्तु नहीं बदलते होंगे ? यों जब सोचने बैठता हूँ तब मुझे लगता है कि हरेक क्षण का अपना पृथक् अस्तित्व है, परन्तु सत्य केवल वर्तमान है, न भूत, न भविष्य । यह अलग बात है कि वर्तमान के भी प्रत्येक क्षण की आधी टाँग भूत में फंसी होती है और आधी भविष्य में, परन्तु जो भूत है वह गुजर चुका है और जो भविष्य है वह अभी अनागत है, इसलिए उन दोनों की ही चिन्ता व्यर्थ है । वर्तमान का क्षण ही परम सत्य है । परन्तु वह वर्तमान है कहाँ ? वह पकड़ में कहाँ आता

है ? आ भी नहीं सकता । क्योंकि वर्तमान तो भूत और भविष्य को जोड़ने की श्रृंखला भर है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व कहाँ है ? जैसे पहाड़ के ऊपर चढ़कर देखने वाले को शिखर के दोनों ओर की घाटियाँ दिखाई देती हैं, वैसे ही वर्तमान के शिखर पर चढ़कर देखने वाले को दूर तक भूत और भविष्य की घाटियाँ दिखती रहती हैं ।”

“ब्रजेश, मैं नहीं चाहती ये घाटियाँ । इन घाटियों में अन्धकार है । मैंने इसी जन्म में अनेक जन्मों का अनुभव किया है । एक अन्धकार से दूसरे अन्धकार में मैं बहुत भटकी हूँ । मुझे अन्धकार से नफरत है । मैं चाहती हूँ कि अपने अतीत को भूल जाऊँ । भविष्य की भी मुझे पर्वाह नहीं । बोलो ब्रजेश, क्या भूत और भविष्य से मुक्त करके तुम मुझे सदा वर्तमान में शरण दे सकते हो ? मेरा अतीत मुझ से छीन लो, भविष्य भी मेरे पास मत आने दो, कुछ ऐसा करो कि जो वर्तमान है मैं उसी को सर्वात्मना ग्रहण कर सकूँ और इसी में आत्मलीन हो सकूँ ।”

“स्वेता, भूत और भविष्य दोनों अन्धी गलियाँ हैं । मैं भी इनकी मरीचिका में बहुत भटका हूँ । मैं भी इनसे अपना पीछा छुड़ाना चाहता हूँ । मैं भी चाहता हूँ—वर्तमान, केवल वर्तमान ।”

और तभी न जाने कैसे हम दोनों आर्लिंगन-पाश में आबद्ध हो गए ।

×

×

×

एक दिन मैंने ब्रजेश से पूछा—“क्यों ब्रजेश, क्या प्रेम करना पाप है ?”

ब्रजेश ने कहा—“किसने कहा कि प्रेम करना पाप है ? मैं तुम्हें रवि बाबू द्वारा लिखी एक लघुकथा का भाव सुनाता हूँ । स्वर्ग लोक में एक बार एक ऐसा व्यक्ति पहुँचा जो प्रौढ़ावस्था में पहुँचने पर यह समझने लगा था कि प्रेम करना एक गलती है और जवानी में मैंने जो कुछ किया है, अब मुझे उसका प्रायश्चित्त करना चाहिए । जितना भी आत्मदमन वह कर सकता था, उतना करता रहा । सोचता रहा कि इससे मेरा परलोक सुधर रहा है और कम से कम जीवन के उत्तरार्द्ध में किए इस पश्चात्ताप की बदौलत ही स्वर्ग में मेरी सीट सुर-

क्षित हो जाएगा । द्वार पर चित्रगुप्त ने उसे रोक लिया और अपना रजिस्टर निकाल कर उसके अच्छे और बुरे कामों का लेखा तैयार करने लगा । आगन्तुक यह देखकर हैरान रह गया कि जब से उसने प्रेम को पाप समझकर उसका प्रायशिच्चत करना प्रारम्भ किया तब से उसके जीवन की घटनाओं को खर्च (डेविट) के खाते में दर्ज किया गया है और उससे पूर्व के प्रेममय जीवन को जमा (क्रेडिट) के खाते में । । ।

“और स्वेता, मैं तो यह भी कहता हूँ कि मनुष्य विना प्रेम के रह नहीं सकता । बचपन में उसे अपने बड़ों से जो प्रेम प्राप्त होता है उसी ऋण से तो वह तब उक्षण होता है जब स्वयं अपने बच्चों को प्रेम करता है । जवानी के प्रेम के ऋण का प्रश्न ही नहीं, वह तो नकद सौदा है—दोनों ओर से आदान प्रतिदान का बराबर का हिसाब रहता है । कभी यह प्रेम श्रद्धा के रूप में प्रकट होता है, कभी वात्सल्य के रूप में, कभी प्रणय के रूप में । कभी-कभी इस प्रेम का एक अत्यन्त उत्तेजक और विस्फोटक रूप उद्घाम वासना के रूप में भी प्रकट होता है । परन्तु ज्वार तो समुद्र का असली रूप नहीं है । । ।

“रवि बाबू के शब्दों में ही जीवन की सार्थकता यह है—‘प्रिय-तम, प्राणों के कुंज में सदा तुम्हारी रागिनी बजती रहे, हृदय कमल के आसन पर सदा तुम ही विराजमान रहो, नन्दन वन की सुगन्ध से पुलकित तुम्हारे सुन्दर भवन में सदा मैं विचरण करता रहूँ । मेरी यह देह तुम्हारे चरणों की रज से सज्जित रहे ।’ स्वेता, मैं तुमसे ही पूछता हूँ कि ऐसे व्यक्ति से बढ़कर प्रभु-भक्त और कौन हो सकता है । यह प्रेम दीवाना ही असली प्रभु-भक्त है । मेरे देश में इश्के-हकीकी (आध्यात्मिक प्रेम) और इश्के-मजाजी (भौतिक प्रेम) को मिलाकर जीवन को दार्शनिकता की जिस गहराई तक पहुँचाया गया है उससे न केवल हमारे दैनिक जीवन में, बल्कि हमारी कविता, साहित्य, चित्र-कला, संगीत और दर्शन में भी एक विचित्र आध्यात्मिकता की पुट आ गई है । हम इस आध्यात्मिकता के बिना रह नहीं सकते । । ।

“तुम जानती हो, हमारे यहाँ राधा और कृष्ण की कथा बहुत प्रचलित है ? कथा का अर्थ यह नहीं कि वे कोई काल्पनिक पात्र हैं । हमारे लिए वे ऐतिहासिक पात्र हैं और उतने ही सत्य हैं, जितना

हमारा अपना अस्तित्व । ये राधा और कृष्ण कौन थे ? पति-पत्नी नहीं थे । राधा बरसाने के गोपनायक की पुत्री थी और कृष्ण गोकुल के ग्रामप्रधान नन्द के पुत्र थे । परन्तु इन दोनों का प्रेम ? वह ऐसा बेजोड़ कि धरती पर उसकी तुलना नहीं । दोनों जैसे एक आत्मा, एक मन । राधा-माधव दोनों भौतिक तत्व नहीं; सर्वथा आध्यात्मिक हैं, ईश्वर के अवतार हैं । प्रत्येक समाज में प्रत्येक समय कोई न कोई राधा रहती है, कृष्ण भी रहता है, और समाज के कठोर से कठोर विधि-निषेध भी उनको रोक नहीं सकते । परन्तु हमने इस पर आध्यात्मिकता की ओप चढ़ाकर उसे इतना उदात्त बना दिया है कि वह सारा प्रसंग हमारे लिए गर्हणीय नहीं, प्रत्युत वरणीय बन गया है । मानव की आत्मा आदिकाल से चिर-सुन्दर आनन्दघन की प्राप्ति के लिए जो अहर्निश व्याकुल हुई भंभीरी की तरह धूमती रहती है, राधा और कृष्ण के उपाख्यान द्वारा हमने उसी व्याकुलता को कविता का चोला पहनाया है ।”

मैं बोली—“ब्रजेश, तुम बोलते जाओ, और मैं सुनती रहूँ । तुम्हारी बातों में इतना रस क्यों हैं, ब्रजेश, बोलो तो सही ? बताओ तो सही कि तुम्हारे साथ सम्पर्क से मुझे ऐसा क्यों लगता है कि मैं इस लोक की प्राणी नहीं, किसी दूसरे लोक की प्राणी हूँ ? मेरे जीवन में आशा की नई उमंग क्यों उमग-उमग पड़ती है ? तुमने दुनिया को देखने और समझने की मुझे जो नई दृष्टि दी है, क्या उसी का यह परिणाम है ? सच, ब्रजेश, कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है कि तुम्हें स्वर्ग में प्रेम करना सिखाया गया था, फिर तुम्हें यह जानने के लिए धरती पर भेज दिया गया और मेरे साथ छोड़ दिया गया कि कहीं तुम वह प्रेम भूल तो नहीं गए ? यदि ऐसी बात न होती तो मुझे तुम्हारे साथ अपनी इतनी एकात्मता क्यों अनुभव होती ? कभी-कभी मुझे लगता है कि मैं एक छोटे से जहाज में बैठी दिशाहीन समुद्र में भटक रही थी, कहीं किनारा नजर नहीं आता था, निराशा के आलम में मैं उस जहाज से सब सामान निकाल-निकाल कर समुद्र में फेंकती चली जाती थी और आकस्मिक जल-समाधि की तैयारी कर रही थी । तभी अचानक अज्ञात देश से एक दूसरा जहाज आया ।

उस जहाज में से एक अजनबी मुसाफिर निकला। उस मुसाफिर ने आकर मुझे बचा लिया। वह अजनबी मुसाफिर और कोई नहीं, ब्रजेश, तुम्हाँ हो। अब लगता है कि मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकती।”

अगले दिन मैं ब्रजेश को लेकर शादी के दफ्तर में गई। हम दोनों ने फार्म पर हस्ताक्षर करके यह प्रतिज्ञा की कि हम विवाह-सूत्र में बंधना चाहते हैं। ‘यथासमय उत्तर मिल जाएगा’—कह कर हमें वापिस भेज दिया गया।

मुझे एक-एक दिन भारी हो रहा था। जब कई दिन बीत गए और उत्तर नहीं मिला, तब मैं खुद पूछने के लिए गई कि कौनसी तारीख को हम यहाँ उपस्थित हों और कब हमें वर-वधू या पति-पत्नी का प्रमाण-पत्र दिया जाएगा।

कर्क ने कहा—“यह शादी नहीं हो सकती।”

“क्यों?”

“क्योंकि ब्रजेशसिंह एक विदेशी है।”

“परन्तु किसी विदेशी से विवाह करने पर रूस में कोई प्रतिबन्ध तो नहीं है।”

“यह हम कुछ नहीं जानते। ऊपर से ऐसा ही आदेश है।”

मुझे तसल्ली नहीं हुई, तो मैं ऊपर के अधिकारियों के पास गई।

वहाँ से भी यही सूचना मिली कि और ऊपर के अधिकारियों का तथा पार्टी के सेक्रेटरी का यही आदेश है।

मुझे आश्चर्य हुआ कि विवाह के सम्बन्ध में भी पार्टी का और ऊपर के अधिकारियों का आदेश चलता है?

तब मैं सब तरह से लड़ने पर आमादा होकर सर्वोच्च अधिकारी के पास गई।

वहाँ सर्वोच्च अधिकारी ने और कई नई बातें उठाईं। उसने कहा कि ब्रजेशसिंह की पहले दो शादियाँ हो चुकी हैं और वे दोनों पत्नियाँ

अभी जीवित हैं ।

ब्रजेश सिंह ने कहा—“मेरी चेकोस्लोवाकिया वाली पत्नी मुझे छोड़कर चली गई है । भारतीय पत्नी से तलाक की दरखास्त मैंने दे रखी है ।

“परन्तु जब तक तलाक मंजूर नहीं होता तब तक हम कैसे अनुमति दे सकते हैं ?”

इस पर ब्रजेशसिंह की प्रत्युत्पन्नमति ने तुरन्त एक हल निकाला । उसने कहा—“मैं अपने आपको मुसलमान घोषित करता हूँ । इस्लामी शरियत के हिसाब से दूसरी पत्नी भी जायज है ।”

तब सर्वोच्च अधिकारी ने भी नया पैंतरा बदला । उसने कहा—“स्वेतलाना सारे राष्ट्र की मिल्कियत है, क्योंकि वह हमारे राष्ट्र-पिता स्तालिन की पुत्री है, इसलिए रूस यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि उसकी राष्ट्रीय मिल्कियत किसी विदेशी के हाथ में पड़े ।”

तो मैं भी कोई जायदाद हूँ ? वैसी ही जड़ ? मेरी अपनी कोई आशाएं-आकांक्षाएं नहीं हैं ? मुझे साम्यवादी शासन की मशीन में एक मशीनी पुर्जा ही बन कर रहना होगा ?

पहली बार शासन से विद्रोह की बात मेरे मन में आई । यह कैसा कानून है जो हमें पति-पत्नी के रूप में साथ-साथ रहने से तो नहीं रोकता किन्तु हमें परस्पर पति-पत्नी कहने का अधिकार देने को तैयार नहीं ? क्या यह आत्मवंचना नहीं है ? जो शासन ऐसे झूठ को प्रश्रय दे उसे क्या कहा जाए ?

ब्रजेशसिंह मेरे साथ विवाह करने के लिए कितनी दूर तक जाने को तैयार था, यह मैंने देख लिया । वह अपनी पहली पत्नी को छोड़ने को तैयार था । वह हिन्दू धर्म को छोड़कर मुसलमान बनने को तैयार था । वह मुझे भारत ले जाकर वहाँ मेरे साथ रहने को तैयार था । और यदि रूस सरकार मुझे भारत जाने की अनुमति न दे तो वह अपनी सारी सम्पत्ति और जायदाद का मोह छोड़कर मेरे साथ रूस में बसने और वहाँ का नागरिक बनने को तैयार था । वह मेरे लिए क्या कुछ करने को तैयार नहीं था ? क्या आज तक मुझे कभी ऐसा अनुरक्त पति मिला था ?

मैंने पूछा—“ब्रजेश, ‘ब्रजेश’ शब्द का अर्थ क्या है ?”

ब्रजेश ने कहा—“क्यों पूछ रही हो ?”

“यों ही ।”

“ब्रजेश का अर्थ है—ब्रज का स्वामी, यह श्रीकृष्ण का पर्याय-वाची शब्द है ।”

मैं खुशी से उछल पड़ी । तुरन्त बोली—“बस ब्रजेश, फैसला हो गया । तुम मेरे कृष्ण, मैं तुम्हारी राधा । बोलो, अब तो बात बन गई न ?

“हाँ स्वेता, तू मेरी राधा, मैं तेरा कृष्ण । दोनों उसी तरह एकात्म, एक-प्राण, एक-मन ।

१०

“तुमने मुझे आश्वासन दिया था कि मुझे बकरा बनाकर नहीं रखोगी ?” ब्रजेश पूछने लगा ।

“हाँ, दिया तो था, पर तुम्हारा मतलब क्या है ? तुम चाहते क्या हो ?”—मैंने पूछा ।

“चाहता हूँ कि एक बार स्वदेश हो आऊँ ।”

“क्यों मुझसे उकता गए ?”

“नहीं स्वेता, ऐसा मत कहो । पर सोचता हूँ कि प्रेम के अलावा कुछ और बन्धन भी हैं जिन्हें पूरा करना मनुष्य के लिए आवश्यक होता है । कुछ जमीन जायदाद के झगड़े और कुछ पारिवारिक कर्तव्य स्वदेश में मेरी उपस्थिति को अनिवार्य बना रहे हैं, उनसे निबटने के बाद मैं फिर यहाँ आऊँगा । तुम्हें छोड़कर मैं कहाँ जा सकता हूँ ?”

और मैंने आँखों में खुशी के आँसू भरकर ब्रजेश को विदाई दी ।

अब मुझे अपना जीवन निरर्थक और निराधार नहीं लग रहा था । मैं किसी के मन-प्राण में बसी थी और उसके सांसों की गर्मी

की याद मुझे ठण्डी रातों में भी गर्म बनाए रखती थी। मुझे जीवन में एक नई दृष्टि मिली थी और पापा की मृत्यु के पश्चात् जो रूस मुझे पराया लगने लगा था वह फिर मुझे अपना लगने लगा था। हालांकि राजनीतिक क्षेत्र में और साहित्यिक क्षेत्र में मेरे पापा की जो उन्मुक्त आलोचना होती थी, उससे मुझे कष्ट होता था, फिर भी मैं सदा से विचार-स्वातन्त्र्य की पक्षपाती रही हूँ, इसलिए मैं उसे बर्दाशत करती थी। मुझे मर्मान्तक वेदना तो तब होती थी जब मैं देखती थी कि स्वयं सरकार के वे अधिकारी, जो पापा के समय सदा उनके निकट सहयोगी और उनके प्रत्येक काम के समर्थक रहे, वे ही अब उस प्रकार की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देते हैं और स्वयं भी खुले आम आलोचना करने से बाज नहीं आते।

कभी पापा ने ख्रूश्चेव को अपनी मित्र-मण्डली के सामने भालू-नृत्य नाचकर दिखाने को विवश किया था। क्या खुश्चेव अब उसी अपमान का बदला लेना चाहते हैं? ख्रूश्चेव को लेनिन की समाधि के पास एक दूसरी समाधि में पापा का शान्तिपूर्वक सोना भी बर्दाशत नहीं है? जिसे अब तक वे 'सोवियत-संघ का पिता' कहते आए थे, क्या उसे अब उस पितृत्व से वंचित कर स्वयं पिता बनना चाहते हैं? क्या इसीलिए लाल-चौक में लेनिन की समाधि के पास से पापा की समाधि हटा दी गई है?

मुझे पापा के अन्तिम समय का वह दृश्य याद आया जब पोलित ब्यूरो के सूत्रधार उनकी शश्या के पास मुँह लटकाए बैठे थे। पर उनमें बेरिया नहीं थे। पापा का ऐसा विश्वासभाजन और अन्त समय अनुपस्थित? बाद में मुझे पता लगा कि पापा के बीमार होते ही बेरिया को परलोक का पथिक बना दिया गया था। तो क्या पापा की मृत्यु भी स्वाभाविक नहीं थी?

मुझे जब पापा के पास पहुँचाया गया, उस समय का दृश्य मुझे याद है। उनकी जबान बन्द थी, और केवल आँखें खुली थीं। जब बार-बार 'पापा! पापा!!' जोर से बोलने पर भी उनके मुँह से आवाज नहीं निकली तो मैंने अपना कान उनके मुँह के पास लगाया। पापा के होंठ कुछ हिले फिर होंठों पर सफेद झाग की परत फैल गई।

मैंने एक नज़र मुँह लटकाह कैठी उस मण्डली की ओर डाली । खुश्चेव की नज़र मुझसे मिली । इसके बाद पापा की आँखें बन्द हो गईं और मैं पछाड़ खा कर गिर पड़ी ।

क्या खुश्चेव को तभी से यह शक है कि पापा अपनी मृत्यु का रहस्य मेरे कान में कह गए हैं? क्या उन्हें यह भय है कि कहीं मैं उस रहस्य को प्रकट न कर दूँ? क्या इसीलिए बाहर से मेरी इतनी आवभगत होते हुए भी अन्दर से मुझसे इतनी बेलखी है? क्या मेरा जीजलाने के लिए ही मेरे पापा का उनकी मृत्यु के पश्चात् इस प्रकार अपमान किया जाता है?

मेरा भाई वैसिली भी यह सब देख-देख कर अन्दर ही अन्दर सुलगता रहता था । हम दोनों जब इकट्ठे होते तो आँखों ही आँखों में एक दूसरे की पीड़ा को पीते रहते । शायद इस धनीभूत पीड़ा से ही बचने के लिए वह भी घर से गायब हो गया ।

फिर भी उसके बारे में कभी-कभी कोई समाचार मुझे मिलता रहता था । उसका अन्तिम समाचार मुझे मिला था सन् १९६२ में—कि वह काजान की एक मोटर-दुर्घटना में सर्व धायल हो गया । उसके बाद से मुझे उसके बारे में कोई समाचार नहीं मिला । फिर भी यह मानने को मेरा जी नहीं चाहता कि वह इस संसार में नहीं रहा ।

माँ नहीं रही, पापा नहीं रहे, दोनों भाई नहीं रहे । दो बार घर बसाया, दोनों बार उजड़ गया । तब आया ब्रजेश—जीवन की नई आशा और नई उमंग । मैंने फिर से अपने नीड का निर्माण किया ।

पुश्किन का कहना है कि जीवन की तीन धाराएँ हैं । जगती के अवसाद भरे इस विस्तृत आँगन में जीवन की पहली धारा है यौवन की—जिसमें उन्माद लहराता है और मन मस्त हो किलोले करता रहता है । दूसरी धारा है कला की—जिसमें कवि आत्म-प्रेरणा से निर्जन के सूनेपन को संगीत से भरता है । तीसरी धारा वह है जिसका शीतल जल व्यक्ति की सुध बुध भुला देता है और व्यक्ति की चेतनता ही उस धारा में गोता खाने लगती है ।

मैं पहली धारा को कभी की पार कर चुकी थी । अब मेरे लिए दूसरी और तीसरी धारा की बारी थी ।

मैं प्रगतिशील लेखक संघ की सदस्या बन गई । मैंने अपनी ही जीवन कथा लिखनी शुरू की ।

ब्रजेश सिंह ठीक कहता था कि मनुष्य के मन के अन्दर बाहर की दुनिया से भी अधिक भयंकर संघर्ष चलता रहता है । मेरे मन में भी दुःख का तूफान आया हुआ था । इच्छा होती थी कि उस सारे तूफान को कागज पर उँड़ेल दूँ ।

ज्यों-ज्यों मेरी कलम चलती जाती, तूफान कागज पर, उत्तरता जाता और मेरा जी हल्कापन महसूस करता जाता ।

ब्रजेश, तुम उत्सुक थे न मेरा अतीत जानने को । यह लो, तुम्हारी अनुपस्थिति में मैं तुम्हारे ही मन का पाथेय तैयार कर रही हूँ ।

मैं लिख रही हूँ, मेरे दिल के महल में चमेली के फूलों से पिरोई दुई एक न्याय की घण्टी लटक रही है । वह घण्टी दिन-रात बजती रहती है, दिन-रात । मैं स्वयं उसकी आवाज सुनती हूँ और दुनिया को सुनाना चाहती हूँ ।

×

×

×

मैं जानती थी—वह आएगा, अवश्य आएगा । और ७ अप्रैल, १९६५ को घर आ गया मेरा परदेसी प्रियतम ।

मेरी बगिया में फिर बसन्ती बयार बहने लगी ।

इस बार वह मास्को आया था स्थायी रूप से मेरे साथ रहने के लिए । जब वह स्वदेश गया था तब मैंने चाहा था कि मैं भी उसके साथ चली जाऊँ, परन्तु मुझे नहीं जाने दिया गया । अब वह स्वयं ही रूस आ गया । इससे अच्छी बात और क्या हो सकती थी ? अब मेरे बच्चे भी मेरे साथ ही रह सकते थे ।

परन्तु इस बार जब ब्रजेश आया तब उसका शरीर टूटा हुआ था । शरीर से भी अधिक उसका मन टूटा हुआ था ।

मैंने पूछा—“ब्रजेश, तुम्हें क्या हो गया ? लगता है कि तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है ।”

“नहीं स्वेता, शरीर का क्या है, आज स्वस्थ है, कल अस्वस्थ । व्याधि तो जैसे उसका धर्म है । परन्तु यह व्याधि भी क्या है ? पहले

सन्ताप मनुष्य के मन में प्रारंभ होता है। वही मन की आधि किसी दिन शारीरिक व्याधि के रूप में फूट पड़ती है।”

“तो क्या, तुम्हारे मन पर कहीं चोट लगी है?”—मैंने पूछा।

“सिर्फ चोट नहीं, भयंकर आघात। जैसे हृदय विदीर्ण हो गया है। इससे पहले मेरा मन इतना क्षत-विक्षत और कभी नहीं हुआ था।”

“कुछ सुनूँ भी तो?”

“अब तुम्हें क्या बताऊँ? यह केवल मेरे अपने मन की ही पीड़ा नहीं है, वल्कि मेरे देश के समस्त बुद्धिजीवियों की पीड़ा है! …… जब अपने देश की स्वतंत्रता के लिए हमने संघर्ष किया था तब कितना उत्साह था मेरे देशवासियों में। किस प्रकार वे बड़े से बड़ा वलिदान करने को तैयार रहते थे! न उन्हें जेल जाने का भय था, न गोली छलने का, न फाँसी का। उस समय जैसे समस्त देशवासी देशभक्ति के पवित्र उन्माद से पीड़ित थे। क्या-क्या थे हमारे स्वप्न! देश को समानता, बन्धुता और न्याय के किस स्वर्ग में पहुँचाने की हम कल्पना किया करते थे? हमें विश्वास था कि तब हमारे देश में कोई गरीब नहीं रहेगा, कोई बेकार नहीं रहेगा, कोई अशिक्षित नहीं रहेगा। परन्तु आजादी पाने के १७-१८ साल बाद भी आज मेरे देश की जो हालत है उसे अपनी आँखों से देखकर आया हूँ। किसी और को बताते भी शर्म आती है।”

मैंने कहा—“क्यों ब्रजेश, मुझे भी क्या तुम गैर समझते हो?”

ब्रजेश गम्भीरता से बोला—“तुम्हें गैर नहीं समझता तभी तो मुँह खोल सका हूँ। नहीं तो, मैं ही जानता हूँ कि अन्दर ही अन्दर कैसी घुटन महसूस होती थी।”

“खोलो, दिल का दर्द खोलो, ब्रजेश! कहने से भी कुछ जी हल्का होता है।”

थोड़ी देर रुक कर धीरे-धीरे लम्बी साँस खींचते हुए वे बोले—“आज मेरे देश में चारों ओर कृत्रिमता और आडम्बर का बोलबाला है। जीवन स्तर को उन्नत करने की होड़ में ऐसी आपाधापी मच्ची है कि मनुष्य के नैतिक गुणों का कहीं पता नहीं लगता। सब राजनैतिक, सामाजिक और निजी संस्थाओं में भ्रष्टाचार का इतना अधिक बोल-

बाला है कि वहाँ भ्रष्टाचार ही नियम लगता है और नैतिकता अपवाद। अब भी वहाँ राशन के लिए लम्बी-लम्बी कतारें लगती हैं। देश के अनेक हिस्सों में भुखमरी और अकाल की छाया है। और कोड़े में खाज की बात यह कि सरकारी अधिकारियों की विलासिता और ऐशपरस्ती में कोई अन्तर नहीं है। जो लोग पहले त्याग और तपस्या के बल पर लोगों के दिलों पर हक्कमत करते थे, अब उन्हीं के बंशज अपने ऐश्वर्य मद में जनता के मन को नहीं, शरीर को, गोलियों और डण्डों से हाँकना चाहते हैं। गुलामी के दिनों में जनता की आँखों में जैसी विद्रोह की ज्वाला दिखाई देती थी, अब उसकी चमक भी नहीं दिखाई देती। जनता जैसे आत्मविश्वास खो बैठी है। जनता ही क्या करे जब उसके नेता ही आत्मविश्वास खो बैठे। बात-बात में विदेशों का मुँह जोहने और अपना भिक्षापात्र लिए उनके द्वार पर खड़े होने में जब नेताओं को ही लज्जा नहीं आती तब जनता में स्वाभिमान कहाँ से आएगा? और स्वेता, जब मैंने अपने देश के कुछ बुद्धिजीवियों को यह कहते सुना कि ‘इससे तो अंग्रेजों का ही राज्य अच्छा था’— तब मेरी आत्मा अन्दर से जार-जार करके रो उठी। नहीं स्वेता, हमने अपने देश के लिए ऐसे भविष्य की कल्पना नहीं की थी। बुद्धिजीवियों की इस नपुसकं विवशता की भी हमने कल्पना नहीं की थी।”

ब्रजेश अपने देश की चर्चा कर रहे थे और मैं मन ही मन अपने देश के वातावरण के साथ उसकी तुलना कर रही थी।

थोड़ी देर बाद गहरा श्वास लेकर ब्रजेश फिर बोले—“अपनी स्वतन्त्रता के उषा काल में देश-विभाजन के परिणामस्वरूप निरीह मानवों का जो कल्लेआम हुआ, लाखों लोग अपने बाप-दादा के सदियों पुराने घरों से उखाड़ कर फेंक दिए गए, शरणार्थियों के मीलों लम्बे काफिलों का दोनों ओर आवागमन और आदान-प्रदान हुआ एवं उसके कारण जो सामाजिक और आर्थिक उथलपुथल हुई—वह सब भयंकर दृश्य था। पर वह सब हमने सहा और उसे संभाल लिया। हमारे बुद्धिजीवी तब इतने लाचार नहीं थे। पर आज? आज तो होंठों पर हँसी और अन्दर से हरेक एक दूसरे का गला काटने पर उतारू। जो सोचते हो उससे विपरीत कहो, जो कहते हो उसके विप-

रीत करो, और जो करते हो उससे विपरीत परिणाम की आशा करो। मन-वचन-कर्म का ऐसा असत्य इतिहास के किसी और काल में भी इतने उग्र रूप में प्रचलित रहा हो, मुझे विश्वास नहीं होता। हम जिसे अपने देश की संस्कृति कह कर उस पर गर्व किया करते थे, अब वह संस्कृति क्षीण हो गई है।”

कैसे कहूँ कि यही सब रूस के लिए भी उतना ही सत्य नहीं था। क्या यह औद्योगिक सम्यता की अवश्यम्भावी परिणति है कि वह संस्कृति, नैतिकता और मानवीय गुणों का एक साथ ह्रास कर देती है?

फिर भी मैंने कहा—“ब्रजेश, तुम्हारे मन की पीड़ा में समझती हूँ। प्रत्येक देशभक्त को अपने देश की ऐसी स्थिति देखकर मानसिक व्यथा होती है। क्या मेरे देश में भी बहुत कुछ यही स्थिति नहीं है? परन्तु मैं समझती हूँ कि यह स्थिति स्थायी नहीं है। यह प्रवल आँधी का एक झोंका है जो सारे देश को एक बारगी झकझोर देता है। इस झोंके में लगता है कि सब कुछ उड़ जाएगा, कुछ नहीं बचेगा, सब ओर धूल छा जाएगी और सब कुछ रेत से अंट जाएगा। पर आँधी के बाद वर्षा होती है, सारी धूल बैठ जाती है, धरती की तपन मिटती है और अग-जग नए जीवन से लहलहा उठता है। यही परिवर्तन तो जीवन का क्रम है।”

“स्वेता, तुम्हारा कहना ही सच हो। तुम्हारी जिह्वा पर इस समय विराजमान यह सरस्वती भविष्यवाणी बन कर सत्य सिद्ध हो। आँधी समाप्त हो, रिमझिम बारिश हो, धूल बैठ जाए और नये सिरे से जीवन लहलहा उठे। यही मानवता की आशा है।”

“तुम तो मानवता के विश्वासी हो। मानवता में से आस्था मत खोओ। नया जीवन आएगा, अवश्य आएगा।”—मैंने कहा और उसके बाद दोनों चुप हो गए।

X

X

X

ब्रजेश को साँस की पुरानी शिकायत थी। जब वे स्वस्थ रहते तो उनका दमा भी दबा रहता। परन्तु मन पर लगातार बोझ सहते-सहते वह फिर उभर आया।

उन्हें अस्पताल में भरती होना पड़ा । वहाँ डाक्टरों ने बताया कि वे ब्रांकाइकटेसिस के पुराने मरीज हैं, वही रोग अब इस हद तक बढ़ गया है कि उनके फेफड़ों में सूजन आ गई है और दरारें पड़ गई हैं जो अब ठीक नहीं हो सकतीं ।

ब्रजेश की यह बीमारी मेरे लिए बड़ी कड़ी परीक्षा की घड़ी थी । मैं दफ्तर में काम करने जाती, घरेलू काम पूरे करती और जल्दी से निवट कर अस्पताल पहुँच जाती । दवाइयों और इंजेक्शनों की भरमार । डाक्टरों ने उनका वजन घटाना ज़रूरी समझा । धीरे-धीरे उनका आधा मन वजन कम हो गया । शरीर पर से चर्बी सारी हट गई और हड्डियाँ चमकने लगीं । फिर भी उनकी काली आँखों का आकर्षण वैसे का वैसा ही बना हुआ था ।

२५ अक्टूबर को वे काम चलाऊ स्वस्थ होकर घर लौटे । उस दिन मैंने अपनी संक्षिप्त-सी मित्रमण्डली में, जिसमें अधिकतर बुद्धिजीवी लेखक थे—ब्रजेश के स्वस्थ होने के उपलक्ष्य में मिठाई बाँटी ।

एक हफ्ता भी नहीं बीत पाया था कि ब्रजेश को फिर दौरा पड़ा । ३१ अक्टूबर को फिर उन्हें अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा ।

अपनी तीमारदारी पर मुझे नाज था । मैं समझती थी कि इस बार भी उसी की बदौलत मैं यम की दाढ़ में से अपने ‘सिर के साँई’ को सही सलामत निकाल लाऊँगी ।

परन्तु मेरा सिर तो रहा, साँई नहीं रहा ।

पापा के मरने पर मुझे लगा था कि जैसे रूस की छत फट गई । अब ब्रजेश के मरने पर लगा कि रूस का फर्श भी फट गया । वरती भी नहीं, आसमान भी नहीं, मैं बीच अघर में लटक रही हूँ ।

+

×

×

रूस के किसी अखबार ने यह समाचार नहीं छापा । मेरी दुनिया उजड़ गई थी और दुनिया बेखबर थी ।

व्याख्या रूसी अखबारों की यह उपेक्षा स्वाभाविक थी, या इरादतन थी ?

पीछे तो मुझसे जिस प्रकार का व्यवहार किया गया उससे मेरा

सन्देह और बढ़ गया। मुझे यहाँ तक शक होने लगा कि डाक्टरों ने शायद जानबूझ कर व्रजेश का गलत इलाज किया। क्या वह भी ऊपर के अधिकारियों के इशारे पर था? क्या मेरे सम्पर्क में आने वाले हरेक व्यक्ति से सरकार डरती थी?

पर उस समय मुझे इन बातों का होश कहाँ था?

व्रजेश का शब्द फूलों से ढका हुआ था। अस्पताल के कतिपय छोटे कर्मचारियों के सिवाय वहाँ और कोई नहीं था। मेरे मित्र और संगी-साथी भी अन्त्येष्टि किया में शामिल होने से कतराते थे। सिर्फ़ फूल ही मृत्यु के समय का गीत गा रहे थे। हृदयहीन मानव जो काम नहीं कर सके उसे फूलों ने बखूबी सरंजाम दे दिया। फूलों का शोक-गीत उनकी खुशबू बनकर चारों ओर ढा गया।

मुझे याद आया उसके साथ अपना प्रेम—कितना उन्मुक्त, कितना बन्धनहीन, कितना स्वच्छन्द। क्या संसार की किसी अन्य चीज़ से उसकी तुलना हो सकती है?

मैं लोकलाज छोड़कर अपने सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ शब्द पर रखे हुए फूलों पर झुक गई। आँखों का जो बाँध मन में घुमड़-घुमड़ रहा था और जिसे मैं प्रयत्नपूर्वक रोके हुए थी, वह अचानक टूट गया।

रोते-रोते मेरी हिचकी बाँध गई और गला रुंध गया।

×

×

×

अब व्रजेश की उत्तर-क्रिया की जिम्मेदारी मेरे ऊपर थी। उसके हिन्दू-संस्कार के अनुसार ही वह होनी आवश्यक थी। जब तक पवित्र भागीरथी में पार्थिव जीवन के अन्तिम अवशेष शरण न पा लें, तब तक क्या कोई हिन्दू अपनी आत्मा की सद्गति की कल्पना कर सकता है?

मैं अब इस प्रयत्न में लगी कि किसी तरह स्वयं भारत जाकर व्रजेश के 'फूलों' को गंगा मैथा के अर्पण कर दूँ। इसके बिना न उसकी आत्मा को शान्ति मिलती, न मेरी।

परन्तु रूस से बाहर जाना क्या आसान बात है? सो भी क्रेमलिन की राजकुमारी के लिए—जिसके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति

से सरकार घबराती है—जो राष्ट्रीय जायदाद है—जो स्तालिन की एकमात्र पुत्री है—और जो एकमात्र ऐसा ज़हरमोहरा है जिसे सरकार अभी तक नहीं पचा पाई है ?

११

१६ अक्टूबर, १९६४ को ख्रुश्चेव का युग समाप्त हो गया ।

मैंने समझा था कि स्तालिनवाद को समाप्त करने का जिस व्यक्ति ने बीड़ा उठाया था, वह जब सिंहासन पर नहीं रहा तब शायद पापा के विरोध में डकस्मात् उठी आँधी की लहर भी समाप्त हो जायेगी ।

ख्रुश्चेव के बारे में लोगों की चाहे कुछ भी धारणाएं रही हों, किन्तु मैं उन्हें हृदयहीन नहीं मानती । जो व्यक्ति खुल कर हँस सकता है और अपनी आलोचना कर सकता है, वह शायद हृदयहीन हो भी नहीं सकता ।

स्वयं ख्रुश्चेव ने ही अपनी अमरीका-यात्रा के समय अमरीकी जनता के समक्ष रूसी मनोवृत्ति का चित्रण करने के लिए एक चुट-कुला सुनाया था :

स्कूल-इन्सपैक्टर निरीक्षण करने के लिए एक स्कूल में गया । उसने एक कक्षा में जाकर एक विद्यार्थी से पूछा—“अब्ना कैरिनिना किसने लिखी है ?”

छात्र ने उत्तर दिया—“सर, मुझे नहीं मालूम, मैंने नहीं लिखी ।”

स्कूल इन्सपैक्टर अध्यापक पर नाराज हुआ—“तुम छात्रों को क्या पढ़ाते हो ? उन्हें इतना भी नहीं मालूम कि अब्ना कैरिनिना किसने लिखी है ?”

अध्यापक शर्मिन्दा होकर चुपचाप खड़ा रह गया । इन्सपैक्टर

अपनी रिपोर्ट लिखकर चला गया ।

धर जाकर इन्सपैक्टर को लगा कि मैंने अध्यापक को डॉट कर अच्छा नहीं किया । हो सकता है, छात्रों ने टाल्सटाय का नाम न सुना हो । इतने छोटे छात्रों से टाल्सटाय की उस अमरकृति के पढ़ने की या उससे अवश्य परिचित होने की आशा नहीं की जा सकती ।

उसने स्कूल के अध्यापक को फोन किया—“उस छात्र को कोई दण्ड मत दीजिए जिससे कल मैंने ‘अन्ना कैरिनिना’ के बारे में सवाल किया था ।”

अध्यापक का उत्तर आया—“आप क्या कहते हैं ? उस छात्र ने तो स्वयं स्वीकार भी कर लिया है कि वह पुस्तक उसी की लिखी हुई है और उसे स्कूल से निकाल भी दिया गया है ।”

X

X

X

रूस में कोई अन्तर नहीं आया था और मेरे स्वप्न मिट्टी में मिल चके थे । मैं सब प्रकार की आशा छोड़ चुकी थी ।

जो लोग कभी मेरे कृपा-कटाक्ष के लिए तरसते थे, हमेशा मेरी खुशामद करने के लिए आगे-पीछे घूमा करते थे, अब वे मुझ से बात करते भी डरते थे । शायद यह सरकारी आतंक था ?

केवल कुछ बुद्धिजीवी लेखक ही थे जो मुझ से सहानुभूति प्रदर्शित करते थे और मुझे भी जीवित-जागृत मानव प्राणी समझते थे ।

तभी एक दिन एक छोटी-सी घटना घट गई ।

गोर्की इन्स्टीट्यूट में एक गोष्ठी हुई । मैं भी उसमें शामिल हुई । उस गोष्ठो में कुछ लोगों की मेरे प्रति अवज्ञा छिपी न रह सकी । जब गोष्ठी समाप्त हो गई और सब लोग जाने लगे तब मैं भी उठ कर चली ।

मैं जीने में पहुंची । मैंने अपना ओवरकोट उठाया । मेरे पीछे था युवा प्रगतिशील लेखक ऐन्ड्रेई सिन्याव्स्की । उसने कहा—“मैं लोगों की मनोवृत्ति देखकर हैरान हूँ । यह व्यक्ति का प्रश्न नहीं, सिद्धान्त का प्रश्न है । आखिर ये लोग मानव के साथ मानव जैसा व्यवहार क्यों नहीं करते ?” और यह कह कर उसने मुझे मेरा ओवरकोट पहनने में

मदद की । उसके इस व्यवहार से मेरी आँखों में आँसू आ गए ।

कुछ दिन बाद मैंने सुना कि सिन्याक्स्की और एक अन्य प्रगति-शील लेखक डेनियल पर मुकदमा चला और उन्हें यातना-शिविर में भेज दिया गया । उनका अपराध केवल यह था कि उन्होंने अपनी कृतियाँ प्रकाशनार्थ यूरोप में भेज दी थीं क्योंकि उन्हें रूस में उनके प्रकाशित होने की आशा नहीं थी । परन्तु सरकार की दृष्टि में यह राजद्रोह था ।

यह घटना १९६६ की है । इससे रूस के समस्त बुद्धिजीवी लेखक आतंकित हो गए । सब समझ गए कि सिहासन पर चाहे स्टालिन हों, चाहे खुश्चेव और चाहे कोसिजिन—साम्यवादी शासन में विचार-स्वतंत्र्य को सहन नहीं किया जा सकता ।

मैंने जो पुस्तक लिखी थी क्या उसे भी रूस में प्रकाशित करने की अनुमति मिलेगी ? इस घटना के बाद उसकी कोई आशा नहीं रही । मैंने चुपचाप अपनी पुस्तक की पाण्डुलिपि ब्रजेश के एक भारतीय मित्र के हाथ भारत भिजवा दी ।

अब मुझे रूस ऐसा घर लगने लगा जिसमें भूतों का डेरा हो । दिन पर दिन वहाँ रहना मेरे लिए कठिन होता गया ।

तब मैं स्वयं रूस के प्रधान मन्त्री कोसिजिन से मिली । मैंने कहा कि ब्रजेशसिंह के 'फूल सिराने' के लिए मुझे भारत जाना है ।

कोसिजिन ने मुझे स्पष्ट मना नहीं किया, पर वे आनाकानी अवश्य करते रहे । उन्होंने मेरे सामने भारत का ऐसा चित्र खींचा कि मैं स्वयं ही वहाँ जाने से विरत हो जाऊँ । कहने लगे—“बहुत, गरीब और पिछड़ा हुआ देश है । वहाँ लोग भूखों मरते हैं । तुम्हें भी खाने को नहीं मिलेगा । जाकर क्या करोगी ? ब्रजेश के परिवार के लोग वहाँ रहते ही हैं, उन्हीं के पास 'फूल' भेज देते हैं, वे गंगा में प्रवाहित कर देंगे ।”

पर जब मैं नहीं मानी तो अन्त में उन्होंने मेरे पार-पत्र और बीसा की व्यवस्था कर दी ।

२५ दिसम्बर, १९६६ को मैं व्रजेश की अस्थियाँ लेकर लखनऊ से ७५ मील दक्षिण पूर्व में स्थित कालाकाँकर पहुँची। हजारों व्यक्ति सवेरे से ही उस भस्मी को श्रद्धांजलि अपित करने के लिए प्रतीक्षा कर रहे थे।

कालाकाँकर पहुँचते ही मेरे देवर, व्रजेश सिंह के छोटे भाई सुरेश सिंह, ने मेरे पांव छूए और हाथ से भस्मी का पात्र लिया। जिस समय पात्र मेरे देवर ने अपने हाथ में लिया तो उसके हाथ काँप रहे थे। शायद अपने परमप्रिय भाई को इस रूप में देखकर उनका हृदय रो रहा था। वहाँ उपस्थित सभी लोगों की आँखों में नमी थी।

भस्मी गंगा में प्रवाहित कर दी गई।

हे गंगा मैया, भारतीयों का विश्वास है कि तू उनके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकार के तापों का शमन करने वाली है। वोल्गा की शीतलधारा मेरा ताप नहीं मिटा सकी। उसने मुझे पीहर भेज दिया। मैं वोल्गा-तट के मायके से गंगा-तट के पीहर आई हूँ। पति-गृह के सिवाय शान्ति कहाँ है? अब तू तो मेरे मन का ताप मिटाना। तू अशरण शरण है, मुझे भी अपनी शरण में रखना।

X

X

X

कालाकाँकर में मैं उसी मकान में रहने लगी जिसमें व्रजेशसिंह रहा करते थे।

द्वार के सामने ही नटराज की मूर्ति रखी थी—उसके एक ओर फ्रेम जड़ी मेरी फोटो थी और दूसरी ओर व्रजेश की।

बंगले के अहाते में हरी मखमली धास। धास के किनारे अशोक वृक्षों की पंक्ति। बीच-बीच में बैठने के लिए एकाघ बैंच। और छज्जे से दिखती गंगा की निर्मल जल धारा। यह सारा वातावरण ही ऐसा शान्त और सौम्य था कि मन की चंचलता स्वयं सिमट कर रह जाती।

यह व्रजेश सिंह के सोने का कमरा है। यह उनका अध्ययन कक्ष है। यह उनका अतिथियों से मिलने का कमरा है। सब कुछ सुरुचि-पूर्ण। कालाकाँकर और अपने मकान के बारे में व्रजेशसिंह ने मुझे इतने विस्तार से बता रखा था कि मुझे कहीं भी अजनबीपन नहीं लगा।

जिस तस्त पर बैठकर ब्रजेशसिंह तेल की मालिश कराया करते थे, मैं उस तस्त पर बैठती । जिस कुर्सी पर वे बैठ कर पढ़ा करते थे, उस कुर्सी पर बैठती । जो पुस्तकें वे पढ़ा करते थे, उन्हें कभी-कभी पढ़ती और इन सबसे मुझे मानसिक सुख मिलता ।

भारत में वे कड़ाके की सर्दियों के दिन थे । परन्तु मेरे लिए वह मामूली सर्दी थी । मैं वर्फ के मुल्क की जो थी । मैं सवेरे ५ बजे उठती, गंगा में जिस स्थान पर ब्रजेश की भस्मी प्रवाहित की गई थी उसी स्थान पर स्नान करती और शीतल जल से रोमाँचित होकर लौटती हुई रास्ते में पड़ने वाले मन्दिर में देवता को नमस्कार करती । मुझे उस देव-प्रतिमा में अपना कृष्ण नजर आता और मैं राधा बनी उसकी याद में तन्मय हो जाती ।

प्रयाग में जब मैं त्रिवेणी संगम पर गई तो मैंने भारतीय नारियों की देखादेखी गंगाजल एक हाथ की हथेली में लेकर दूसरे हाथ से उसे सिर पर छिड़का, आँखों पर लगाया और चुल्ल भर कर आचमन किया । लौटते हुए मैंने पूजा की घण्टी, अर्धा, रुद्राक्ष की माला और आरती तथा पूजा का अन्य सामान खरीदा ।

मैं अण्डे-माँस-मदिरा के सेवन की आदी थी । परन्तु जबसे मुझे पता लगा कि भारतीय विधवा नारियाँ उन सबसे परहेज करती हैं, तब से मेरी भी उनके प्रति अरुचि हो गई । मुझे निरामिष भोजन में आनन्द आने लगा ।

मैं नमस्कार करने के लिए पाश्चात्य ढंग से हाथ मिलाने की आदी थी, परन्तु अब मैंने हाथ मिलाना छोड़ दिया और हाथ जोड़ कर 'नमस्ते' कहना सीख लिया ।

अलबत्ता अंग्रेजी मुझे आती थी, किन्तु हिन्दी नहीं । मैंने स्लेट लेकर बच्चों की तरह हिन्दी लिखना और सीखना शुरू किया । और जिस दिन मुझे पूरी वर्णमाला तथा मात्राओं का ज्ञान हो गया उस दिन पूरे आत्मविश्वास के साथ मैंने हिन्दी का पहला वाक्य लिखा—

भारत मेरा देश है ।

यह वाक्य कितने दिनों से मेरे मन की स्लेट पर लिखा हुआ था । जिस दिन भारत की अपनी भाषा में मन के बाहर की स्लेट पर भी

मैं यह वाक्य लिख सकी, उस दिन मेरी प्रसन्नता का पार नहीं था। मेरी भाभी—सुरेशसिंह की पत्नी प्रकाशवती—भी स्लेट पर हिन्दी में लिखे मेरे इस वाक्य को देखकर मुख्य हुए बिना नहीं रही और ‘मेरी भाभी !’ कहकर वह मुझसे लिपट गई।

अभी तक मैं पाश्चात्य कपड़े पहनने की आदी थी, पर साड़ी के लिए मेरी चिरकाल से ललक थी। धीरे-धीरे मैंने अपनी भाभी से साड़ी पहननी सीखी और अक्सर मैं साड़ी पहन कर रहती। भारतीय विवाहाएँ सफेद साड़ी पहनती हैं इसलिए मैं भी सफेद साड़ी ही पहनती।

एक दिन मैंने अपने देवर से कहा—“देवर जी, मैं जानती हूँ कि तुम्हारे ऊपर मैं एक नया बोझ बन कर आ गई हूँ। पर सुरेश, साल भर में केवल दो साड़ी और दो ब्लाउजों से मैं काम चला लूँगी, इससे अधिक का कष्ट तुम्हें नहीं दूँगी।”

सुरेश ने कहा—“भाभी, तुम यह क्या कहती हो ? बड़ी भाभी तो हमारे यहाँ माता के समान पूज्य होती है। क्या मैं इतना गया बीता हूँ कि तुम्हारे लिए इतना भी नहीं कर सकूँगा ?”

मुझे इस जीवन में आनन्द आ रहा था। परन्तु कभी-कभी रात को न जाने कैसी बेचैनी सी महसूस होती। मैं उठकर बैठ जाती। बाहर चाँदनी रात में आकर अशोक के वृक्षों के बीच में बनी बेच पर बैठ जाती और गंगा की ओर देखती रहती।

क्या यह गंगा भी मेरी ही तरह विरहिणी है ? तब तक भागती चली जाएगी जब तक अपने प्रियतम समुद्र को नहीं पा लेगी ?

गंगा को उसका प्रियतम एक दिन मिल जाएगा। पर क्या मेरा प्रियतम भी किसी दिन मुझे मिलेगा ?

मैं लखनऊ गई, इलाहाबाद गई, बनारस गई। मैंने बनारस में और प्रयाग के त्रिवेणी संगम पर भी ब्रजेश की भस्मी प्रवाहित की। मैंने भारतीय जीवन को निकट से देखने का प्रयत्न किया। भारतीयों के सम्पर्क में आई। मैंने देखा कि रूस में भारत के बारे में कैसी गलत तस्वीर मेरे मन में बिठाने का प्रयत्न किया गया था। अन्तिम दिनों का ब्रजेश के दिल का दर्द भी मेरी आँखों से ओमल नहीं था।

फिर भी मैंने महसूस किया कि भारतीय जीवन-पद्धति में एसी कुछ विशेषता है कि गरीब से गरीब और असहाय से असहाय व्यक्ति भी अपने दुःखों पर विजय पा सकता है। यही यहाँ की संस्कृति है, यही यहाँ का दर्शन है। मानव को मानव समझने की मूल वृत्ति यहाँ जन-जन के मन में समाई है। अपने देश में जहाँ चारों ओर मुझे विरोधी नजरें अपना पीछा करती नजर आती थीं वहाँ इन भारतवासियों की दृष्टि में कैसी स्निग्धता और विश्वमैत्री की भावना छलकी पड़ती है।

नहीं ब्रजेश, अपने देश की जनता में विश्वास मत खोना। यह अशिक्षित और अभावग्रस्त हो सकती है, परन्तु संस्कृति-शून्य और संस्कार-शून्य नहीं हो सकती। और अब तो यह भारत मेरा अपना देश है। इस देश की संस्कृति में तो मेरा विश्वास दिन प्रति दिन दृढ़ और दृढ़तर होता जाता है। चाहती हूँ कि मेरा शेष जीवन यहीं बीत जाए, इसी प्रकार गंगा-स्नान करते, इसी प्रकार देवारावन करते, इसी प्रकार प्रियतम को याद करते।

जिस प्रकार ब्रजेश की भस्मी मैंने गंगा में प्रवाहित की है उसी प्रकार किसी दिन कोई मेरी भस्मी भी गंगा में प्रवाहित कर दे और जैसे गंगा अन्त में अपने प्रियतम में विलीन हो जाती है, वैसे ही मैं भी एक दिन अपने प्रियतम में विलीन हो जाऊँ !

पर मनुष्य का मनचीता कहाँ होता है ? रूस सरकार को लिखती हूँ तो वह मेरे पारपत्र की और अधिक अवधि बढ़ाने को तैयार नहीं होती। और भारत सरकार के अधिकारियों से कहती हूँ तो वे रूस की इच्छा के विरुद्ध तिनका तक हिलाने की तैयार नहीं।

मैं स्वयं भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी से मिली हूँ। कभी-कभी मन ही मन उसकी अपने साथ तुलना भी करती रही हूँ। वह भी मेरी ही तरह विश्वविद्यात बड़े बाप की बेटी। मेरी ही तरह विघ्वा। मेरी ही तरह उसकी भी दो सन्तानें। मेरी ही तरह देश के भाग्य-परिवर्तनकारी राजनीतिक निर्णयों की साक्षी। मैं समझती थी कि कम से कम वह तो मेरे दिल का दर्द समझेगी।

और मेरे जेठ का वह लड़का दिनेशसिंह—जो रिश्ते में मेरे पुत्र के समान ही तो हुआ—वह भी भारत सरकार का इतना बड़ा पदाधि-

कारी, फिर भी कैसा लाचार निकला !

इनमें से कोई भी मेरे स्थायी भारत-निवास की व्यवस्था करने को तैयार नहीं हुआ । पीछे मुझे पता लगा कि भारतीय संसद् में भी इस पर खूब गर्मांगर्म बहस हुई और वहाँ सरकार के जिम्मेदार मन्त्रियों ने जानबूझकर वाकछल का प्रयोग किया । मंत्रियों ने कहा कि सरकारी तौर से हमारे पास वैसा कोई प्रार्थनापत्र नहीं आया ।

परन्तु जब इन्दिरा गांधी और दिनेशसिंह दोनों से अलग-अलग मिलकर मैंने उनके समक्ष अपने मन की इच्छा व्यक्त कर दी तब क्या अलग प्रार्थना-पत्र की कसर रह गई ?

क्या प्रधानमन्त्री और विदेश मन्त्री के दैनिक जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं जब वे मन्त्री नहीं रहते ? क्या उनका मंत्रित्व भी उनके दफ्तर में रहने के बजाए ही होता है ? कोई सरकारी व्यक्ति कब सरकारी होता है और कब गैर-सरकारी अथवा निजी—इसका फैसला कौन करेगा ?

पापा की इच्छा के विरुद्ध आचरण करने वालों का हश्श क्या हुआ—यह रूस में अपनी आँखों से मैंने देखा है । मैं जानती हूँ कि सरकार उस जड़ मशीन का नाम है जिसके दिल नहीं होता । फिर वह सरकार चाहे रूस की हो, चाहे भारत की ।

मैं सोचती थी कि भारत स्वतन्त्र हो गया है तो स्वतन्त्र निर्णय की बढ़िया भी उसकी सरकार में होगी । परन्तु भारत में रहकर मैं स्पष्ट यह देख सकी कि भारत की बुद्धि पर रूस और अमेरिका दोनों का गहरा दबाव है और भारत अपने आपको तटस्थ तथा सन्तुलित दिखाने के लिए सरकार के नट की सी हरकत करता है ।

लगता है कि रूस और अमेरिका के दबाव से मुक्त होने के लिए भारत की जनता को अभी एक और संघर्ष करना पड़ेगा ।

मैं लखनऊ और इलाहाबाद में कई वकीलों से मिली । उनसे मैंने यह जानने का प्रयत्न किया कि भारत सरकार के सामने मुझे भारत रखने में क्या कानूनी अड़चन है और क्या मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझे रूस भेजा जा सकता है ? क्या ऐसा कोई नुक्ता नहीं निकल सकता कि मैं भारत में ही रह सकूँ ?

वकीलों ने मुझे निराश कर दिया ।

तब मैंने एक प्रेस-वक्तव्य देकर इस मामले को जन-आन्दोलन का विषय बनाना चाहा । मैंने प्रेस ट्रस्ट के संवाददाता को बुलाकर अपना लिखित वक्तव्य उसे दे भी दिया, परन्तु वह वक्तव्य कहीं भी कभी प्रकाशित नहीं हुआ ।

मैं इसका एक ही कारण समझती हूँ कि भारत सरकार के समान भारत के पत्रकारों में भी स्वतन्त्र निर्णय-बुद्धि का अभाव है ।

रूस से चली थी तब यही सोचा था कि एक मास बाद रूस वापिस आ जाऊँगी । मेरे बच्चे जो वहीं थे । पर भारत की भूमि में, कालाकाँकर में, गंगा में, ब्रजेश के घर में और उसकी स्मृति में इतना आकर्षण है, यह मुझे पहले कहाँ मालूम था ! अब भारत मेरे मन में रम गया था ।

पर जब भारत-निवास का कोई उपाय नहीं बना और मेरे पार-पत्र की अवधि समाप्त होने को आई तब मैंने अपने पुत्र और पुत्री के लिए उनकी रुचि की कुछ चीजें खरीदीं, भारतीय मित्रों से 'द स्वद-निया' (विदा, फिर मिलेंगे) कहा और दिल्ली के लिए चल पड़ी ।

भारत मेरा देश था और कालाकाँकर मेरा घर । घर छोड़ कर जाना कैसा लगता है ?

३ मार्च की शाम को कालाकाँकर से चली तो लाल साहब (सुरेश सिंह) और भाभी प्रकाशवती ने मेरे पैर छूने चाहे । मैंने उन्हें मना करते हुए कहा—“आप रिश्ते में भले ही मुझसे छोटे हैं, किन्तु उम्र में बड़े हैं”—और यह कह कर मैंने ही उनके चरण छू लिए ।

मैंने कहा—“विपरीत संस्कारों में पली हूँ, इसलिए धर्म, ईश्वर और आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में एकदम आप लोगों की तरह तो नहीं सोच पाती, परन्तु यदि भगवान् मुझे पुनर्जन्म दे तो इतना अवश्य चाहती हूँ कि मुझे देवर और भाभी आप जैसे ही नसीब हों ।”

फिर मैंने कहा—“चाहे कुछ भी हो जाए, मैं ब्रजेशसिंह की बरसी यहीं मनाना चाहती हूँ । मैं जाकर अपनी सरकार से लड़ूंगी कि मुझे भारत वापस आने की अनुमति दे । मैं कालाकाँकर अवश्य जाऊँगी, अवश्य आऊँगी, मुर्दा या जिन्दा—यह नहीं कह सकती ।” और यह

कहते-कहते मेरी आँखों में आँसू छलछला आए । देवर और भाभी की भी आँखें गीली हो गईं ।

×

×

६ मार्च, १९६७ ।

नई दिल्ली स्थित रूसी दूतावास । रूसी राजदूत महामहिम श्री वेनेदिक्तोव से भेंट ।

वेनेदिक्तोव मेरे पापा के समय रूस के मन्त्रिमण्डल में रह चुके थे । मुझ से खूब अच्छी तरह परिचित थे और मेरे प्रति उनकी सहानुभूति भी थी । परन्तु न जाने क्यों वे मेरे भारत-निवास की अवधि बढ़ाने के विरुद्ध थे । क्या यह 'ऊपर के अधिकारियों' का संकेत था ? क्या वेनेदिक्तोव ने ही भारत के प्रधानमन्त्री पर अपना व्यक्तिगत प्रभाव डालकर मुझे भारत में रहने की अनुमति से वंचित रखा ?

जब तक मैं कालाकाँकर रही तब तक सप्ताह में दो बार रूसी दूतावास का कोई न कोई वरिष्ठ कर्मचारी मुझसे मिलने आता । कहने को शायद यह सिलसिला केवल मेरा कुशल-क्षेम जानने तक सीमित था, परन्तु मुझे लगता है कि इसके पीछे वेनेदिक्तोव की मेरे प्रति सन्देहवृत्ति भी थी । मेरी सब गतिविधियों की और मेरे आचार-विचार में परिवर्तन की उन्हें पूरी जानकारी थी ।

जब भारतीय ढंग से रहन-सहन, साड़ी-ब्लाउज पहनने, निरामिष भोजन करने और मन्दिर में पूजा आदि की उन्होंने आलोचना की तो मुझे बुरा लगा । मैंने कहा—“इसमें क्या बात है ? मैं हिन्दू बन गई हूँ और हिन्दू नारियों की तरह रहना चाहती हूँ ?”

वेनेदिक्तोव ने व्यंग्यपूर्वक कहा—“स्तालिन की पुत्री और धर्म-कर्म की तथा हिन्दुत्व की ऐसी दीवानी ?”

“क्यों, उसमें क्या बुराई है ? यह तो अपने-अपने विश्वास की बात है ?”

इस पर वेनेदिक्तोव जैसी विद्रूप हँसी हँसे और उनकी आँखों में मेरे प्रति जैसी अवज्ञा का भाव उभर आया उससे मुझे लगा कि रूस सरकार ने शायद मेरे विरुद्ध कोई कड़ा कदम उठाने का फैसला कर

लिया है—सम्भव है कि मैं रूस जाते ही गिरफ्तार कर ली जाऊँ और मुझे भी सिन्याव्स्की और डनियल की तरह प्रगतिशील लेखक होने के अपराध में गिरफ्तार करके यातना-शिविर में भेज दिया जाए ?

दूतावास में उस दिन दो विशिष्ट व्यक्ति आए हुए थे और उनके स्वागतार्थ समारोह तथा भोज का आयोजन था । सब लोग उस समारोह में व्यस्त थे ।

कालाकाँकर जाने पर मेरा पास पोर्ट रूसी दूतावास में ही रख लिया गया था । क्यों ? क्या उन्हें पहले से ही मुझे पर शक था ? पर जब मार्च को मुझे मास्को जाना ही है, उसी के लिए तैयार होकर आई हूँ, तब किसी प्रकार का शक-सुबह बेकार था ।

मेरा पास-पोर्ट मुझे दे दिया गया । और तभी रूस पहुँचने पर कौन-सा भविष्य मेरी प्रतीक्षा कर रहा है, यह मुझे स्पष्ट नजर आने लगा ।

मैंने फोन करके एक टैक्सी बुलाई ।

मेरे कमरे के सामने टैक्सी आकर खड़ी हुई । मैंने अपनी एक अटैची उसमें रखी और चल पड़ी ।

दूर नहीं जाना था । मुश्किल से एक फर्लांग का फासला होगा । पास ही अमेरिकन दूतावास था ।

चपरासी से मैंने दूतावास के किसी बड़े अफसर को बुलाने को कहा ।

एक नौ-सैन्याधिकारी से मेरी भेंट हुई । मैंने उसे अपना परिचय दिया । परिचय पाकर वह स्तब्ध रह गया । वह मुझे अपने राजदूत के पास ले गया ।

और—और मैं स्विट्जरलैण्ड पहुँच गई ।

नियति का यह कैसा विचित्र चक्र है । १५ मार्च, १९१७ को रूस में क्रान्ति हुई थी । तब तक लेनिन रूस के बाहर स्विट्जरलैण्ड में प्रवासित थे । क्रान्ति के बाद लेनिन रूस गए । और अब उसके ठीक ५० वर्ष बाद मैं स्तालिन की पुत्री—क्रेमलिन की राजकुमारी—मार्च के मध्य में ही रूस से स्विट्जरलैण्ड आई हूँ । क्या इन पचास वर्षों में क्रान्ति का वह चक्र पूरा हो गया ?

क्या अब एक नई क्रान्ति का श्रीगणेश नहीं होना चाहिए ?

X

X

X

याद आ रहा है मुझे अमेरिका से ढाई गुना बड़ा, लगभग ८७ लाख वर्गमील में फैला, २३ करोड़ की आबादी का, अपने जन्म का, महान् देश रूस ! उसके बर्फ से ढकै मैदान ! उसकी अपार खनिज सम्पदा ! उसका साहित्य ! उसकी संस्कृति ! वहाँ के लोग ! पग पग पर प्रकृति को चुनौती देने वाला उनका परिश्रम ! और उनकी विवशता !

याद आ रहा है मुझे मेरे प्रियतम का देश—भारत—चिर-पुरातन, चिरनवीन ! उसकी दरिद्रता, उसके अभाव ! हृदय की विभूति से समृद्ध उसके सरल लोग ! उनका निश्छल व्यहार ! और वहाँ की सरकार की विवश दयनीयता !

अभी कल ही डा० राम मनोहर लोहिया को चिट्ठी लिख कर चुकी हूँ। भारतीय लोकसभा में मेरे लिए उन्होंने जो संघर्ष किया है उसके लिए उन्हें घन्यवाद दिया है। मैंने फिर दुहराया है—“मैं चाहे जहाँ जाऊँ, चाहे जहाँ रहूँ, पर मेरा हृदय कालाकाँकर से, भारत से जुड़ा हुआ है।”

अपने देवर लालसाहब और भाभी प्रकाशवती को चिट्ठी लिखी है। उनसे घर का हालचाल पूछा है। आशीर्वाद दिया है और आशीर्वाद लिया है।

चिट्ठी लिखी है लालसाहब के वकील को भी और उनसे प्रार्थना की है कि लाल साहब के घरेलू जायदाद सम्बन्धी मुकदमे को जल्दी निपटवाएं। इस मुकदमे के लिए भी मैं कितनी चिन्तातुर रही हूँ। मुझे याद है कि आखिरी पेशीवाले दिन मैं तब तक खाना नहीं खा सकी थी जब तक मुझे उस पेशी का पूरा विवरण नहीं सुना दिया गया था।

और याद आ रहे हैं मुझे मेरे बच्चे—जोसेफ और कात्या—जिन्हें मैं रूस में असाहायावस्था में छोड़ आई हूँ। क्या मेरे पीछे सरकार उन्हें तंग करेगी ?

मेरे बच्चो, तुम डरना मत, निर्भय रहना। कन्दन भी मत

करना। जो वासन्ती हवा इस समय स्निट्जरलैण्ड में वह रही हैं सन्त के इस प्रारम्भ में, वही हवा वहाँ भी वह रही होगी। भगवान् भुवन-भास्कर की धूप में खड़े होकर उस मादक वासन्ती वायु को अपने प्राणों में भरना और वह विश्वास रखना कि एक दिन जीवन की विजय होगी, उसका पुनर्जन्म होगा और नया जीवन उसी तरह लहलहा उठेगा जैसे पेड़ों पर नई कोंपलें।

मेरे लेखक मित्रो और साथियो, मैं तुमको भी भूली नहीं हूं। मैं जानती हूं कि रूस के बर्फ ढके मैदानों पर इस समय भैड़िये विचरण कर रहे हैं और सारा देश एक मूर्खतापूर्ण आतंक का शिकार है। मैं जानती हूं कि वहाँ लोग मुर्दा शब्दों को पकड़ते हैं, उनके जिन्दा अर्थों को नहीं। मैं यह भी जानती हूं कि आज वहाँ पुलिस और घुड़सवार सेना को ही साहित्यिक कृतियों की प्रथम समालोचना का अधिकार है। जानती हूं कि किसी अनचाही उपमा के लिए, किसी अवांछित प्रतीक के लिए और अविकासियों की दृष्टि से अनुचित शब्दालंकार या अभिव्यञ्जना के लिए तुम्हें जेल में डाला जा सकता है तथा यातना-शिविर में भेजा जा सकता है। परन्तु यह भी जानती हूं कि यह स्थिति ठीक वैसे ही स्थायी नहीं है जैसे कि पतभड़ स्थायी नहीं होता।

जैसे किसी दिन किसी अन्धे को आँखें मिल जाती हैं और वह नदी, वन, पर्वत तथा प्राकृतिक दृश्यों की सुन्दरता को निहार कर चकित हो जाता है, वैसे ही प्रभु ने मेरी आँखों पर से भी पर्दा हटा दिया है। मैं गिरजाघर में बैठी खिड़की के बाहर फूलों को नई ताजगी से खिलता देख रही हूं। देख रही हूं कि बर्फ पिघल रही है और नदियों में रवानी आ रही है। मेरे प्रभु! तूने मेरी आँखें खोली हैं। मुझे नई दृष्टि दी है। नई शब्द-सम्पदा से मेरी झोली भर दी है। जिन शब्दों को पहले मैं नहीं जानती थी अब वे अजन्त प्रवाह की तरह मेरे मुह और कलम से निकल रहे हैं। आत्माभिव्यक्ति की जो बेहद संभार मेरे अन्दर भरी थी, वह फूटी पड़ रही है।

X

X

X

बचपन में पेड़ पर चढ़ कर चिड़िया के घोंसले में से मैं दो अष्टे

उठा लाई थी और अपनी माँ के कहने से उन्हें वापिस उसी घोंसले में रखने गई थी। पर पेड़ पर चढ़ते चढ़ते वे अप्पे झोली में से गिर कर फूट गए थे—और मेरी माँ इस घटना को मेरे भविष्य के प्रति अपशकुन समझ कर मन ही मन उदास हो गई थी—यह सब दृश्य याद आता है। यह दृश्य मेरे दिल पर बोझ बन कर छाया है।

इसी बोझ को दिल में संभाले, अटैची में अपनी हस्तलिखित पुस्तक की पाण्डुलिपि रखे, मैं नए जीवन की तलाश में अमेरिका जा रही हूँ।

यह लो, जेनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे से हवाई जहाज उड़ चला !

“द स्वदानिया ! ”

“द स्वदानिया !!!”

“द स्वदानिया !!!”

हमारे लोकप्रिय उपन्यास

हम तो मोहब्बत करेगा	कृश्न चन्द्र	2.00
सांझ का सूरज	ओमप्रकाश शर्मा	2.00
यौवन की प्यास	अलबर्ट मोराविया	2.00
रोम की नगरवधू	अलबर्ट मोराविया	2.00
स्वेतलाना	क्षितीश	1.00
घाट का पत्थर	गुलशन नन्दा	2.00
मदभरे नयन	कुशवाहा कान्त	2.00
जवानी के दिन	कुशवाहा कान्त	2.00
नारिन	कुशवाहा कान्त	2.00
अवतरण	गुरुदत्त	1.00
आखिरी किस्त	गुरुदत्त	1.00
आकाश खाली है	दत्त भारती	2.00
ये चकले वालियां	कुप्रिन	2.00
मनुष्य के रूप	यशपाल	2.00
एक दो तीन	शंकर	2.00
वरदान	मुंशी प्रेमचन्द	2.00
नीलोफर	शौकत थानवी	2.00
तपोभूमि	जैनेन्द्र व ऋषभचरण जैन	2.00
मुझे मालूम न था	भगवती प्रसाद वाजपेयी	1.00
नवाब ननकू	आचार्य चतुरसेन	1.00
एक रात का नरक	उपेन्द्र नाथ अश्क	1.00
लोपा मुद्रा	के० एम० मुंशी	1.00
पत्थर के सनम	शंकर सुल्तानपुर	1.00
स्वयंसिद्धा	माणिक वन्दोपाध्याय	1.00

सुबोध पाकेट बुक्स

४४०८ नई सड़क, दिल्ली-६

प्रेस

सुबोध पॉकेट बुक्स दिल्ली

स्टालिन के सपनों में वसी नवयोवता के बनते-बिगड़ते
आशियाने



भारत की सर्वश्रेष्ठ पॉकेट बुक्स